

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जनता की राजनैतिक चेतना तेज़ी के साथ विकसित हुई थी। लेकिन नेताओं को ब्रितानी शासकों से रियायतें लेने में सफलता नहीं मिली। इसके साथ ही साथ देश का औपनिवेशिक शोषण चलता रहा।

वाणिज्य-व्यापार में पर्याप्त अवसरों के अभाव के कारण मध्य वर्ग के शिक्षित लोग सरकारी नौकरियों और वकालत जैसे पेशों की ओर अधिक से अधिक झुकने लगे। उनमें कुछ अधिक साहसी लोगों ने पत्रकारिता अपनाई। सरकारी नौकरियों के अवसर अत्यंत सीमित थे। उदाहरण के लिए सन् 1903 में 75 रुपए मासिक से ऊपर वेतन पाने वाले भारतीयों की संख्या केवल 16 हजार थी। वकालत का पेशा प्रायः असफल था। पत्रकारिता का पेशा भी उन दिनों अत्यंत खतरनाक था। समस्या का मूल बेरोज़गार स्नातकों की संख्या नहीं बल्कि वे लोग थे, जो बहुत बड़ी तादाद में परीक्षा में असफल हो जाने के कारण अयोग्य हो गए थे। नौकरी न पा सकने वाले इस युवा वर्ग के लोगों में ही निराशा की भावना सबसे अधिक थी।

शताब्दी की समाप्ति के समय तक किसानों, मजदूरों और गांवों के संभ्रांत लोगों की मनस्थिति असंतोष और निराशा की थी। अतः आश्चर्य नहीं कि उन नरमपंथी नेताओं की लोकप्रियता निरंतर घटने लगी थी, जो सरकार से सुधार की पैरवी करते आ रहे थे। जो अवश्यंभावी था, वह घटा। परिस्थितियों ने बड़ी संख्या में उन नेताओं को मैदान में उतार दिया जो अपनी मांगों के आमूल परिवर्तनवादी थे, और जो राष्ट्रवादिता के एक युद्धोन्मुखी रूप में विश्वास करते थे। उन्हें उग्रपंथी कह कर पुकारा जाने लगा। यदि नरमपंथी नेताओं को शिक्षितों और शहर के मध्य वर्ग से मुख्य समर्थन मिला तो इन नए नेताओं ने निम्न-मध्य वर्ग, छात्रों और यहां तक कि किसानों-मजदूरों के एक वर्ग को व्यापक धरातल पर अपनी ओर आकर्षित किया।

बौद्धिक नेतृत्व शुरू में बंगाल के राजनारायण बोस और बंकिमचन्द्र चैटर्जी तथा महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री चिपलुणकर सरीखे व्यक्तियों ने किया। बंकिम के गीत वंदे मातरम् से शुरू किए जो बाद में देशभक्ति और आत्म बलिदान की झकझोर देने वाली पुकार बन गए।

इस तथ्य को निश्चय ही ध्यान में रखना चाहिए राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभिक दौर में जो अनुभव प्राप्त हुए उनसे नेताओं को एक प्रौढ़ता मिली, एक हैसियत मिली। उनमें आत्मसम्मान और आत्मविश्वास का विकास हुआ। उन्होंने महसूस किया कि वे अपना शासन खुद चला सकते हैं। उन्होंने अपने देश के भावी विकास के प्रति विश्वास प्राप्त कर लिया था।

स्वामी विवेकानन्द राजनीतिक नेता नहीं थे, लेकिन उन्होंने भी कई बार इस आवश्यकता पर बल दिया कि व्यक्ति में अपनी निजी शक्ति का दृढ़ विश्वास होना चाहिए। उन्होंने कहा, “अगर दुनिया में पाप है, तो वह दुर्बलता है। हर तरह की दुर्बलता से बचो। दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है। जो भी चीज़ तुम्हें शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक रूप में दुर्बल बनाती हैं, उसे जहर की तरह तिरस्कृत करो। उसमें कोई जीवन नहीं है। वह सत्य नहीं हो सकती।”

विवेकानन्द पहले पुरुष थे जिन्होंने स्पष्टतया और साहस के साथ अतीत की महिमा के दिवास्वप्न देखने की प्रवृत्ति का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि भारतीय राष्ट्र के भविष्य का निर्माण दूरदर्शिता और दृढ़ता से किया जाये। उन्होंने पूछा, “हे परमेश्वर ! वह समय कब आएगा, जब हमारे देश के लोग निरंतर अतीत में जीने की प्रवृत्ति से मुक्त होंगे ?” यद्यपि वह एक धार्मिक नेता थे लेकिन उन्होंने घोषणा की कि धर्म भूखे पेट वालों के लिए नहीं है, कि उसे मानव कल्याण में अपनी भूमिका अदा करनी चाहिए।

इस दौर में बाहर के देशों में ऐसी घटनाएं घटीं, जिन्होंने भारतीय लोगों में एक युद्धोन्मुख राष्ट्रवादिता की भावना पैदा करने में मदद की। विशेषकर सन् 1868 के बाद जापान ने एक आधुनिक और शक्तिशाली देश के प्रादुर्भाव के रूप में भारतवासियों को एक नयी उम्मीद दी। जापान ने साबित कर दिया था कि एशिया का एक पिछड़ा हुआ देश भी अपने प्रयत्नों से विकास कर सकता है और बिना पश्चिमी देशों की सहायता के शक्तिशाली बन सकता है। 50 वर्षों से कम की अवधि में ही जापान एक औद्योगिक राष्ट्र और मजबूत सैनिक शक्ति बन गया था। उसने सभी के लिए प्रारंभिक शिक्षा और एक सक्षम आधुनिक प्रशासन की व्यवस्था की थी। भारत के लिए अनुसरण करने का एक उदाहरण वहां था। इसी तरह सन् 1896 में इटली पर इथियोपिया की और सन् 1905 में रूस पर जापान की विजय से यह सिद्ध हो गया था कि गौरों का दूसरे देशों से बेहतर होने का दावा झूठा है।

आयरलैंड, रूस, मिस्र, तुर्की और चीन की जनता के स्वतंत्रता के संघर्ष से भारतीय लोगों पर यह साबित हो गया था कि अपने सिद्धांतों के लिए तकलीफें सहने को तैयार एक संगठित देश सर्वाधिक शक्तिशाली देश तक से संघर्ष कर सकता है।

उग्रपंथियों में सबसे विशिष्ट नेता थे **बालगंगाधर तिलक**। बाद में उनकी प्रसिद्धि लोकमान्य तिलक के रूप में हुई। उनका जन्म सन् 1866 में हुआ था। उन्होंने मुम्बई विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षा पास की और अपना सारा जीवन राष्ट्र की सेवा में लगा दिया। जनमत को अपने राजनीतिक लक्ष्यों और उद्देश्यों के अनुकूल ढालने में उन्होंने अपनी पत्रकारिता की प्रतिभा का अद्भुत उपयोग किया। उन्होंने जी. जी. अगारकर के साथ दो समाचार पत्रों की स्थापना की। एक था अंग्रेजी का **मराठा** और दूसरा मराठी का **केसरी**।

सन् 1889 से उन्होंने स्वयं केसरी का संपादन शुरू किया और समाचारपत्र राष्ट्रीय मसलों का वाक्पटु पैरवीकार बन गया। तिलक ने अपने भाषणों और लेखों द्वारा जनता से आग्रह किया कि वह आत्मविश्वासी, स्वाभिमानी, निर्भय और निस्वार्थी बनें। उन्होंने परंपरागत गणेश पूजा का संगठन किया और आम जनता में राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार करने के लिए शिवाजी पर्व की शुरुआत की।

तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने महाराष्ट्र के किसानों को सलाह दी कि जब भी सूखा, अकाल या किसी दैवी विपत्ति से फसल नष्ट-भ्रष्ट हो जाए तो लगान देना बंद कर दें। जैसी कि उम्मीद थी, ब्रितानी अधिकारियों में घबराहट शुरू हुई। उन्होंने सन् 1897 में तिलक को गिरफ्तार कर लिया। उन पर सरकार के विरुद्ध घृणा और द्वेष फैलाने का अभियोग लगाया गया। उनके बचाव में निर्भीकता और अडिगता थी। उन्होंने माफ़ी मांगने से इंकार करके गर्व के साथ 18 महीने की कठोर कारावास

की सजा स्वीकार की। उनके इस त्याग ने बिजली जैसा असर पैदा किया। वह नई राष्ट्रवादिता के जीवंत प्रतीक बन गए। जब वायसराय एल्गिन ने भारत में बने कपड़ों पर आबकारी कर लगाया तो उन्होंने ब्रितानी चीजों का बहिष्कार करने और स्वदेशी को अपनाने का आह्वान किया।

लोकमान्य तिलक के अलावा, विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष और लाला लाजपतराय सरीखे नेता युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादिता की विचारधारा के मुख्य व्याख्याताओं में से थे। सबसे पहले उन्होंने चाहा कि भारत के लोग खुद स्वतंत्रता पाने के लिए कार्य करें। दृढ़ता के साथ कोशिश करें कि विदेशी शासन के अंतर्गत उन्हें हीनता की जिस स्थिति में रहने को विवश कर दिया गया है, उससे वे ऊपर उठ सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई त्याग बहुत बड़ा नहीं था, कोई तकलीफ बहुत बड़ी नहीं थी। अतः उन्होंने साहस, आत्मविश्वास और त्याग की भावना के लिए पैरवी की। दूसरे, इस झूठे सुझाव को भी उन्होंने पूरी तरह निर्मूल कर दिया कि भारत को एक 'उदार निर्देशक' या विदेशी सहायता की आवश्यकता है। उन्होंने विदेशी शासन से घृणा की और दृढ़ता के साथ यह दावा किया कि मात्र स्वराज्य या पूर्ण स्वतंत्रता ही उनका लक्ष्य है, जिसके लिए वे संघर्ष कर रहे हैं। तीसरा या अंतिम तथ्य है कि उन्हें जन शक्ति में अटूट विश्वास था और उन्होंने जन कार्यों के जरिए ही स्वतंत्रता पाने की तैयारी की।

बंग-भंग और बंगाली प्रतिक्रिया

जब कर्जन आये, उस वक्त तक उग्रपंथ के बगूलों ने उबलना शुरू कर दिया था। उनकी नीति ने उस उबाल को जल्द ही उफान में बदल दिया। भारतीय लोग स्वशासी सरकार, शिक्षा की स्वायत्तता और समाचारपत्रों की स्वतंत्रता के जिन आदर्शों में जी रहे थे, उन्हीं पर कर्जन ने आक्रमण किया। उन्होंने कोलकाता नगर निगम के भारतीय सदस्यों की संख्या कम कर दी। शैक्षिक सुधार के नाम पर भारतीय विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण और बढ़ा दिया। उन्होंने एक विश्वविद्यालय आयोग का गठन किया, जिसने सिफारिश की कि द्वितीय श्रेणी के कालेजों और कानून की कक्षाओं को बंद कर दिया जाये, शिक्षा शुल्क में वृद्धि की जाये, व्यवस्थापिका सभा (सीनेट) के सदस्यों का कार्यकाल और उनकी संख्या घटा दी जाये और शिक्षण संस्थानों को मान्यता देने के अधिकारों को व्यापक बनाया जाये। कानून की कक्षाओं और द्वितीय श्रेणी के कालेजों को तोड़ देने का परिणाम केवल उनमें पढ़ाने और उन्हें संचालित करने वाले भारतीयों को अपेक्षाकृत कम नौकरियां मिलना ही नहीं था। उनकी वजह से उच्चतर शिक्षा और कानूनी पेशे में जाने के अवसर भी कम हो जाते। शिक्षा-शुल्क में वृद्धि के कारण क्लर्की या मास्टरी की नौकरी करने के इच्छुक गरीब लोगों के रास्ते बंद हो जाते। नरम पंथियों ने विधेयक का विरोध किया, लेकिन कर्जन ने बहुत थोड़ी रियायतें दी। राष्ट्रीय शिक्षा की मांग अधिक तीव्र हो गयी।

उनके भारतीय सरकारी गोपनीयता (संशोधन) विधेयक का लक्ष्य दमनकारी अधिकारियों को सार्वजनिक आलोचना से बचाना था। ऐसा लगा कि वह लिटन की नीति की ही एक अगली कड़ी था जिसने भारतीय समाचारपत्रों को पहले से भी अधिक राष्ट्रवादी बना दिया। उन्होंने विदेशी विनियोगों, दिल्ली दरबार और तिब्बती आक्रमण में बुरी तरह भारतीय कोष खर्च किया। भूमिकर में कमी करने से इंकार कर दिया। अंततः आया बंगाल का विभाजन। प्रगट रूप में कड़ा गया कि

एक लाभकारी प्रांत को बेहतर प्रशासन देने के लिए ऐसा किया जा रहा है। लेकिन वास्तविक उद्देश्य था आमूल परिवर्तन चाहने वाले बंगाली राष्ट्रवादियों पर नियंत्रण करना। प्रशासनिक सुविधा और आसाम का विकास योजना के स्वीकृत उद्देश्य थे, लेकिन उसमें राजनीति घुस गयी थी। अधिकारियों ने पूर्वी जिलों को 'कोलकाता के अनिष्टकारी प्रभावों' से मुक्त करने और 'मुसलमानों के साथ अधिक न्यायपूर्ण व्यवहार' करने की बात कही। उनकी इच्छा थी कि उग्रपंथ का उत्तेजक गढ़ बन जाने वाले बखारगंज और फरीदपुर को पूर्व बंगाल में हस्तांतरित कर दिया जाये।

विरोध व्यापक था। कांग्रेस ने योजना को 'असंगत' कहा। दो विकल्प सुझाये गये। या तो बंगाल को एक गवर्नर के अधीन रखा जाये या हिंदी और उड़िया भाषी लोगों को बिना बंगभाषियों को बांटे हुए अलग कर दिया जाये। कर्जन ने विरोध की बंगाली बाबुओं की खोखली गर्जना कह कर टुकरा दिया। इससे केवल यह साबित हुआ कि विभाजन राजनैतिक दृष्टि से वांछनीय था और यदि सरकार मान जाती तो भारत के पूर्वांचल पर बढ़ती हुई अशांति के स्रोत खत्म हो जाते।

फरवरी, 1904 में पूर्वी बंगाल में पहुंचने के अवसर पर उन्होंने पहली योजना को विस्तार दिया। उसके अनुसार बंगाल को 15 जिलों से हाथ धोना पड़ता और उसकी आबादी कम होकर 5 करोड़ 40 लाख रह जाती। रिलजे ने लिखा, "संयुक्त बंगाल एक शक्ति है। विभाजित बंगाल विभिन्न रास्तों पर जायेगा। हमारा एक उद्देश्य उसे विघटित कर देना है ताकि हमारे शासन का विरोध करने वाला एक ठोस आधार कमजोर हो जाये।" बाद में लार्ड हार्डिंज ने स्वीकार किया कि "बंगाली बाबुओं पर प्रहार करने की इच्छा दूसरे विचारों पर हावी हो गयी।" लेकिन बंगालियों के सभी वर्गों यथा जमींदारों, वकीलों, व्यापारियों, शहर के गरीबों, मजदूरों और सबसे अधिक छात्रों के संयुक्त विरोध के नीचे सरकारी इरादे दब गये। जनता के एक स्वाभिमानी और संवेदनशील वर्ग की भावनाओं को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया था।

कर्जन ने भारतीय मामलों के मंत्री की अनिश्चित सहमति प्राप्त की और सन् 1905 में योजना को प्रकाशित कर दिया। उन्हें लगा कि जिस एकता को नष्ट करने की उन्होंने कोशिश की थी, उसी की उन्होंने रक्षा कर दी है। विभाजन विरोधी आंदोलन बंगालियों के हर वर्ग तथा देश का समग्र राष्ट्रवादी नेतृत्व का काम था। शुरू-शुरू में सुरेंद्रनाथ बैनर्जी जैसे नरमपंथियों ने आंदोलन का सूत्र अपने हाथ लिया लेकिन आंदोलन की बागडोर शीघ्र ही विपिनचंद्र पाल, अश्विनी कुमार दत्त और अरविंद घोष जैसे तेज उग्रपंथियों के हाथ में आ गयी। मुख्यतः वह एक शहरी आंदोलन था लेकिन उसने ग्रामीण जनता को भी छुआ।

इसकी शुरुआत 7 अगस्त, 1905 को कोलकाता के टारून हाल में आयोजित एक विशाल सभा में हुई, जब ब्रितानी माल के बहिष्कार का प्रस्ताव पास हुआ। 16 अक्टूबर को (जिस दिन विभाजन प्रभावी हुआ), राष्ट्रीय शोक का दिन घोषित किया गया। आम हड़ताल हुई। लोगों ने उपवास किया। वे वंदे मातरम् के नारे लगाते तथा देशभक्ति के गीत गाते हुए नंगे पांव गंगास्नान के लिये गये। सारे बंगालियों के बंधुत्व के प्रतीक रूप हिंदुओं और मुसलमानों ने एक-दूसरे की कलाइयों पर राखी बांधी।

रवींद्रनाथ टैगोर के स्वदेशी गीतों ने जनता के क्रोध और पीड़ा को अभिव्यक्ति दी। उनके हर स्वर में धरती और विभाजित हो जाने वाले लोगों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। बंगाली प्रतिरोध करने, दुःख झेलने और त्याग करने के लिए संगठित होकर एक व्यक्ति के रूप में खड़े हो गये। बारिसाल और मैमनसिंह जैसे दूर-दराज के जिले शीघ्र ही देशभक्ति की आग में धधकने लगे। बनारस कांग्रेस (अधिवेशन) की अध्यक्षता करते हुए गोखले ने विभाजन के संदर्भ में कहा था : “वह एक ‘निर्मम भूल’ थी।” वह नौकरशाही की वर्तमान प्रणाली के निकृष्टम् रूपों, जनमत के प्रति उसकी अत्यंतिक उपेक्षा, अपनी बुद्धि को बेहतर मानने के उसके अहंकारी बहानों, जनता की सर्वाधिक प्रिय भावनाओं की बेहुदी अवमानना और शासित लोगों के हितों की रक्षा के प्रति उनकी वास्तविक उदासीनता की एक सर्वोपांग मिसाल है।”

सन् 1905 की व्यापार जनभावना से स्वदेशी और बहिष्कार के जिस विचार का जन्म हुआ, वह नया नहीं था। अमरीका, आयरलैंड और चीन की जनता ने उसे पहले ही अपना लिया था। भारतीय उद्योग के विकास के शुद्ध आर्थिक साधन के रूप में स्वदेशी का उपदेश महाराष्ट्र के गोपाल राव देशमुख, जी.वी. जोशी और महादेव गोविंद रानाडे तथा बंगाल के राजनारायण बोस, नवगोपाल मित्र और टैगोर परिवार ने दिया था। उसी तरह 19वीं शताब्दी के सातवें दशक में भोलानाथ चंद्र के ब्रितानी जनता पर आर्थिक दबाव डालने के लिए बहिष्कार की सिफारिश की थी। तिलक ने सन् 1896 में संपूर्ण बहिष्कार आंदोलन का नेतृत्व किया था। ऐसा महसूस किया गया कि स्वदेशी और बहिष्कार एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे के बिना कोई भी सफल नहीं हो सकता था।

विभाजन विरोधी आंदोलन से इस पुरानी अवधारणाओं को एक नयी शक्ति मिली लेकिन इसी की वजह से नरमपंथियों और उग्रपंथियों के मतभेद भी खुले रूप में सामने आ गये। बंबई के नरमपंथी एक आम राजनैतिक हथियार के रूप में बहिष्कार के विचार के विरोधी थे। यद्यपि उन्होंने स्वदेशी का स्वागत किया था। गोखले उस बहिष्कार शब्द को ताक पर रख देने को तैयार थे, जिसका अर्थ ‘दूसरे को आहत करने की प्रतिशोधात्मक इच्छा’ था और जिसने ‘**एक दूसरे के प्रति अनावश्यक दुर्भावना**’ पैदा कर दी थी। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के ख्याल से बहिष्कार एक तात्कालिक अन्याय से लड़ने का एक विशेष अस्त्र था। उन्हें उम्मीद थी कि विभाजन रद्द हो जाने के बाद उसका प्रयोग बंद हो जायेगा। लाला लाजपतराय अधिक परिवर्तनवादी थे। उन्होंने कहा, “**भारतीयों की शिकायतों पर अंग्रेज़ तभी ध्यान देने को विवश होंगे, जब उनकी जेब पर सीधा खतरा आयेगा।**” तिलक, पाल और अरविंद की दृष्टि में बहिष्कार के कई उद्देश्य थे। वह मैनचेस्टर पर एक आर्थिक दबाव, साम्राज्य विरोधी आंदोलन का एक राजनीतिक हथियार और स्वराज की उपलब्धि के लिए आत्मनिर्भरता का एक प्रशिक्षण था।

मतभेद कुछ समय के लिए समाप्त हो गये। विभाजन विरोधी आंदोलन स्वदेशी आंदोलन में विकसित हुआ, जिसने विखंडित और त्रस्त शक्तियों को बल और संलग्नता दी। बहुत से कांग्रेसी नेताओं को अंग्रेजों के न्याय और स्मरणपत्रों, सभाओं, लेखों और समाचारपत्रों के माध्यम से नरमपंथी ढंग से संवैधानिक आंदोलन को कारगर रूप में चलाने में विश्वास था। बंगाल की घटनाओं ने उनके इस विश्वास की जड़ हिला दी। स्वदेशी ने बिना जाति और धर्म के भेदभाव के राजनीति में नये ऊँचे

को ला दिया। इस नये वर्ग ने समाचारपत्रों को स्पष्टवादी और छात्रों को विद्रोही होना सिखाया। इसने हिंदुओं और मुसलमानों को सहयोग करने, जनता की अपनी राजनैतिक और आर्थिक स्थिति पर विचार करने, निर्भीक होने, सरकार की अवज्ञा, लाठी चलाने, जेल जाने और फांसी के तख्ते को देश की सेवा में अर्जित सम्मान समझकर स्वीकार कर लेने की सीख दी।

बनारस कांग्रेस ने बंगाल के विभाजन और सरकार द्वारा अपनाये गये दमनकारी कदमों का प्रभावशाली विरोध किया। उसने बंगाल के लिए स्वदेशी और बहिष्कार का अनुमोदन किया। यद्यपि उसने सारे भारत के लिए बहिष्कार की अनुमति नहीं दी, लेकिन लाजपतराय ने सभी प्रांतों को बंगाल का अनुसरण करने के लिए कहा। तिलक ने बलपूर्वक कहा कि स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का लक्ष्य स्वराज की प्राप्ति है। सारे बंगाल और देश के मुख्य नगरों और कस्बों में हजारों सभाओं में स्वदेशी और बहिष्कार का आह्वान किया गया। इसके दो पहलू थे। एक तरफ सार्वजनिक जगहों पर ब्रितानी वस्तुओं के उत्पादन और बिक्री के लिए जोरदार प्रयत्न किये गये। मिठाई बनाने वालों ने विदेशी चीनी का इस्तेमाल न करने, धोबियों ने विदेशी कपड़े न धोने, पुजारियों ने विदेशी चीजों से पूजा न करने की कसम खाई। दक्षिण भारत और बंगाल की स्त्रियों ने विदेशी चूड़ियों और शीशे के बर्तनों का इस्तेमाल छोड़ दिया। छात्रों ने विदेशी कागज इस्तेमाल करने से इंकार कर दिया। यहां तक कि डाक्टरों और वकीलों ने उन व्यापारियों की सहायता करने से इंकार कर दिया, जो विदेशी उत्पादनों का क्रय-विक्रय करते थे। धरने को सामाजिक बहिष्कार के परंपरागत तरीके के साथ जोड़ दिया गया। बारिसाल जैसी कुछ जगहों में दुकानदारों ने स्वेच्छा से नमक और कपड़े नष्ट कर देने के लिए दे दिये और इस प्रकार दंड कर लगाने वाली पुलिस के क्रोध को स्वयं आमंत्रण दिया।

दूसरी तरफ, व्यावहारिक पहलू यह कि आंदोलन ने कुटीर उद्योगों को ही नहीं, विभिन्न किस्म के बड़े पैमाने के जोखिम भरे व्यापारिक प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया। स्वदेशी कपड़ा मिले, दियासलाई, साबुन, चर्मशोधक और मिट्टी के बर्तन बनाने के कारखाने सहसा जगह-जगह खुल गये। आचार्य पी. सी. राय ने 'बंगाल कैमिकल फैक्टरी भंडार' खोला, जो शीघ्र ही बहुत लोकप्रिय हो गया। गुरुदेव टैगोर ने स्वयं एक स्वदेशी भंडार खोलने में सहायता की। टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी ने सारी सरकारी और विदेशी सहायता लेने से इंकार कर दिया तथा उसकी सारी पूंजी, अभिदान के रूप में, भारतीयों ने तीन महीने के भीतर व्यवस्था कर दी। बैंक और बीमा कंपनियां खोलने में अनेक जमींदारों और व्यापारियों ने राजनीतिक नेताओं का साथ दिया। यहां तक कि जहाजरानी संस्थान भी शुरू किये गये।

स्वदेशी आंदोलन ने संस्कृति के क्षेत्र में नये आंदोलनों को गतिशीलता दी। एक नये प्रकार की राष्ट्रवादी कविता, गद्य और पत्रकारिता का जन्म हुआ, जो आवेश और आदर्शवाद से मुक्त थी। रवींद्रनाथ टैगोर, रजनीकांत सेन और मुकुंददास द्वारा रचित राष्ट्रवादी गीतों में न केवल सामाजिक ढंग से प्रभाव डालने की शक्ति थी वरन् साहित्यिक स्तर पर भी वे स्थाई मूल्य के थे। आज भी बंगाल में वे गीत गाये जाते हैं। स्वदेशी और राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप जिस राजनैतिक पत्रकारिता का जन्म हुआ उसने स्वाधीनता, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता पर अत्यंत उच्च कोटि के भाष्य दिये।

पश्चिमी भारत में स्वदेशी और बहिष्कार का आंदोलन तिलक के साथ पहुंचा। उनके नेतृत्व में पूना में पड़े पैमाने पर विदेशी कपड़ों को होली जलाई गयी। उन्होंने स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा के मुख्यांग के रूप में सहकारी भंडार खोले। मुम्बई के मिल-मालिकों से सस्ते दाम पर धोतियां देने का आग्रह किया। पूना में एक स्वदेशी बुनाई कंपनी भी खोली गयी। आयात के कारण चीनी का देशी उत्पादन और गन्ने की पैदावार काफी कम हो गयी थी। विदेशी चीनी के इस्तेमाल के विरुद्ध पंजाब में आंदोलन की एक लहर दौड़ गयी। रावलपिंडी के दुकानदारों ने व्रत लिया कि वे उसका क्रय-विक्रय नहीं करेंगे। मुल्तान के ब्राह्मणों ने विदेशी चीनी से बने प्रसाद को मंदिरों में चढ़ाने पर रोक लगा दी। आंदोलन हरिद्वार, दिल्ली, कांगड़ा और जम्मू तक फैला। सैयद हैदर राजा दिल्ली में स्वदेशी आंदोलन के चलते-फिरते प्रेरणास्त्रोत थे। चिंदबरम् पिल्ले ने मद्रास के पूर्वी तट (मद्रास राज्य) पर तूतीकोरन में स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कंपनी खोली।

युद्धोन्मुखी राष्ट्रीय आंदोलन का विकास

स्वदेशी भावना का उद्देश्य लोगों को खुद की राष्ट्रीय प्रणाली के अनुसार शिक्षित करना था। सन् 1898 में डॉन के संपादक सतीशचंद्र मुखर्जी ने राष्ट्रीय शिक्षा योजना की संरचना की थी। शिक्षा की ब्रितानी प्रणाली को राष्ट्रविरोधी समझा जाता था। कहा गया कि इस विदेशी ज्ञान को सिफ्ट स्ट लेने की आवश्यकता है, जिसका कोई संबंध भारत की संस्कृति या उसकी परिस्थितियों से नहीं है। अंग्रेजी के माध्यम ने शिक्षा के सुख का गला घोट दिया, युक्त विचारों की निरुत्साहित किया और रचनात्मक लेखक को बाधित किया। रवींद्रनाथ टैगोर ने शांति निकेतन की स्थापना करके रास्ता दिखा दिया था। कर्जन ने भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक और कारलाइल के ज़िलाधीनों के पास भेजे गये परिपत्रों के जरिये छात्रों को राजनैतिक प्रदर्शनों में हिस्सा लेने की मनाही कर दी गयी थी। इसके कारण राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् की स्थापना को बल मिला। सन् 1906 में बंगाल नेशनल कालेज की स्थापना हुई और अरविंद उसके प्राचार्य हुए। पाठ्यक्रम में विज्ञान और तकनीक को उचित स्थान दिया गया था लेकिन बल भारतीय चीजों पर दिया गया। इसका उद्देश्य भारतीय वैज्ञानिक, इतिहासकार और उद्योगपति पैदा करना था, लेकिन अधिक बल देशभक्ति की भावना को उभारने पर था। इसे एक सांस्कृतिक ज़मीन तैयार करनी थी जिस पर स्वतंत्रता फल-फूल सके। क्षेत्रीय भारतीय भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाना था। बंगाल टैक्निकल स्कूल ने उस तकनीकी शिक्षा पर बल दिया, जिसकी अब तक उपेक्षा की गयी थी। वजीफे देकर छात्रों को उन्नत प्रणालियों का अध्ययन करने के लिए जापान भेजा गया। सारे देश में दर्जनों की संख्या में राष्ट्रीय स्कूल खुल गये।

टैगोर ने आत्मनिर्भरता का, आत्मशक्ति का उपदेश दिया जिसका मुख्य काम गांवों का सामाजिक और आर्थिक पुनरुद्धार करना था। अश्विनी कुमार दत्त ने इसे व्यावहारिक रूप देने के लिए बारिसाल में नामशूद्रों की जातिगत, अपात्रता, दहेज प्रथा, बाल-विवाह और अधिक शराब पीने जैसे बुराइयों को खत्म करने की कोशिश की लेकिन उग्रपंथियों ने राजनैतिक स्वतंत्रता को ही कुल मिलाकर अधिक महत्वपूर्ण माना।

तिलक ने केसरी में लिखा, “हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल तना स्वराज है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएं।” वास्तव में स्वदेशी ने ही स्वराज का रास्ता दिखाया। अतः

आंदोलन को, ब्रितानी शासन ने हर रूप के विरुद्ध विभाजन विरोधी प्रदर्शनों से हटाकर एक सविनय अवज्ञा आंदोलन के रूप में व्यापक बनाना था। इसका उद्देश्य केवल ब्रितानी वस्तुओं और स्कूलों का ही नहीं, बल्कि संक्षेप में, नगरपालिकाओं, विधान परिषदों का बहिष्कार करना और सरकार से सारे संबंध तोड़ लेना था। ब्रितानी सम्मान की जड़ों पर आक्रमण करके उसके सम्मोहन को भंग कर देना था। संगठन द्वारा प्रशासन को असंभव बना देना था ताकि वह ब्रितानी वाणिज्य के शोषण और नौकरशाही द्वारा भारतीय जनता के दमन में सहायक न हो सके।

इसके पहले कि उग्रपंथी एक सम्पूर्ण संघर्ष के लिए कांग्रेस पर अपना अधिकार जमा सकें, उन्हें किसानों और मजदूरों को आंदोलन में शामिल करना था। स्वदेशी के संदेश का जनता तक पहुंचना शुरू हुआ और क्योंकि जनता के कल्याण और संपन्नता से उसकी सीधी प्रासंगिकता थी, वह उन्हें सार्थक लगा। राजनीति और सैद्धांतिक और अमूर्त अवधारणाएं इस तरह का अहसास नहीं कर सकती थी। यदि उग्रपंथियों ने किसानों से लगान न देने का आंदोलन करने और मजदूरों से पूंजीपतियों के विरुद्ध खड़े होने को कहा होता तो अधिक जोश के साथ आंदोलन में शरीक हुए होते। यद्यपि यह काम नहीं किया गया, लेकिन किसानों और मजदूरों की भूमिका विशिष्ट रही। नील पैदा करने वाली चंपारण की रैयत बिहार में विद्रोह में उठ खड़ी हुई। आसाम और मैमनसिंह में अशांति फैली। बारिसाल में अश्विनी कुमार दत्त ने मुसलमान किसानों के आंदोलन का नेतृत्व किया। बंगाल में हड़ताल की एक लहर उठी और उससे ईस्ट इंडियन रेलवे, क्लाइव जूट मिल्स में कुछ समय के लिए काम बिल्कुल ठप्प पड़ गया। तिलक ने मुम्बई के मजदूरों से अपील की जिसके फलस्वरूप उनकी गिरफ्तारी के बाद आम हड़ताल हुई। चिंदबरम् पिल्लै ने तूतीकोरन कोरल मिल में हड़ताल कराई।

लेकिन संघर्ष में आहुति बनने की जिम्मेदारी देश के युवा वर्ग पर पड़ी। संध्या, जुगांतर, केसरी और पंजाबी जैसे क्रांतिकारी समाचारपत्रों से प्रेरणा पाकर वे मैदान में कूद पड़े। छात्रों, क्लर्कों और शिक्षकों के लगाव में निराशा का एक तत्व था। उन्होंने बंगाल के हर नगर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक गिरोह बनाया। पीली पगड़ी और लाल कमीज पहने, वंदे मातरम् के नारे लगाते और राष्ट्रीय गीत गाते हुए वे हजारों की संख्या में सरकारी स्कूलों, कॉलेजों और दफ्तरों से बाहर निकल आये। दुकानों पर धरने देते रहे, स्वदेशी वस्तुएं बेचते रहे। जिन स्कूल-कॉलेजों के छात्रों ने आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लिया, उनको मिलने वाला अनुदान बंद हुआ और विश्वविद्यालय की मान्यता खत्म कर दी गयी। उन संस्थाओं के छात्रों के वजीफे और सरकार में नौकरी पाने के लिए अयोग्य करार दिया गया। आसाम और बंगाल में आतंक का राज्य था। लड़कों को जुमाने किये गये। उन्हें निष्कासित किया गया, उन्हें बुरी तरह पीटा गया। कोलकाता के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड ने चौदह साल के एक मासूम बच्चे की कोढ़ लगाने का आदेश दिया। दूर दराज की अमरावती और कोल्हापुर जैसी जगहों में भी लड़कों के साथ ऐसा बर्ताव किया गया। दमन ने क्रोध को जन्म दिया और क्रोध के कारण लोगों ने आतंकवादी गतिविधियों में सक्रिय ढंग से हिस्सा लिया।

शुरु में मुसलमानों ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। पहली बार परदे से बाहर निकलकर औरतें जुलूसों और धरनों में शामिल हुईं। प्रारंभ में जिन लोगों ने बहिष्कार का सुझाव दिया था। उनमें पटना

के लियाकत हुसैन भी थे। उन्होंने ईस्ट इंडियन रेलवे में हड़ताल कराई थी। उनकी उर्दू की उत्तेजक प्रचार पुस्तिकाओं ने मुसलमानों की भावना को उभारा था। अब्दुल रसूल ने बारिसाल सम्मेलन की अध्यक्षता की थी, जिसे पुलिस ने लाठी चलाकर भंग कर दिया था। ज़मींदार और वकील अब्दुल हलीम गजनवी ने स्वदेशी उद्योग खोला और ब्रितानी चमड़े की वस्तुओं के बहिष्कार आंदोलन का नेतृत्व किया। अबुल कलाम आज़ाद, अरविंद से मिले और क्रांतिकारी गतिविधियों को बंगाल के बाहर चलाने में मदद की। कुछ उग्रपंथियों ने उत्साह के अतिरेक में और हिंदू धर्म-प्रतीकों पर बल देकर बेवकूफी में मुसलमानों को अलग कर दिया लेकिन सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, अश्विनीकुमार दत्त और रवींद्रनाथ टैगोर जैसे नेताओं ने हिंदू-मुसलमान एकता पर बार-बार बल दिया।

सरकार ने दमन के तरीके ने, विशेष कर बारिसाल सम्मेलन में प्रतिनिधियों पर निर्दयतापूर्वक किये गये आक्रमण ने, उग्रपंथियों के संघर्ष चलाने के संकल्प को और दृढ़ कर दिया। कोलकाता कांग्रेस (1906) के अवसर पर दादाभाई नौरोजी ने उग्रपंथियों की भावनाओं की प्रशंसा करते हुए घोषणा की कि कांग्रेस का उद्देश्य “ब्रितानी राज्य या उपनिवेशों की तरह स्वराज प्राप्त करना” है। उग्रपंथियों ने स्वराज का अर्थ अपने ढंग से लगाया था। पंजाब के लाजपतराय और अजितसिंह के देश-निकाला और संध्या तथा वंदे मातरम् को देशद्रोही (?) रचनाएं छापने के आरोप में दंडित करने के साथ आंदोलन की रफ्तार तेज़ हो गयी। आग उगलने वाली संध्या के संपादक ब्रहाबंधु उपाध्याय का मुकद्दसे की सुनवाई के दौरान देहांत हो गया। विपिनचंद्र पाल जेल में थे। लाजपतराय को छोड़ देने और सुधारों की बात करने के बावजूद लोगों की उत्तेजनापूर्ण मनोस्थिति शांत नहीं हुई। कांग्रेस अधिवेशन पूना के बदले सूरत में करने, और अध्यक्ष पद के तिलक के दावे को अस्वीकृत करके रासबिहारी घोष का चुनाव करने के प्रश्न पर तिलक और अरविंद के क्रांति प्रिय गुट ने शक्ति आजमाइश का फैसला किया। बहिष्कार के प्रस्ताव को खत्म करने की नरमपंथियों को कोशिश ने आग में घी का काम किया। सूरत कांग्रेस का अधिवेशन अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था में भंग हो गया। राष्ट्रवादी युद्ध के लिए तत्पर दो गुटों में बंट गये थे। इसने आंदोलन को कमज़ोर किया।

तिलक अभी भी जवाबी सहयोग के पक्ष में थे लेकिन अरविंद ने रूस के आतंकवादी ढंग के आक्रामक प्रतिरोध का निश्चय किया। उनके निश्चय का अर्थ स्पष्ट हुआ मुजफ्फपुर में बम आक्रमण और मानिकतल्ला में आतंकवादियों के गुप्त अड्डों का पता लगाने के बाद। तिलक ने केसरी में उसके नैतिक समर्थन में लिखा, “यदि प्रशासन का रूसीकरण हुआ तो जनता निश्चय ही रूसी तरीके अपनायेगी।” उन्हें 6 वर्ष की ‘देश निकाला’ की सजा देकर मांडले भेज दिया गया। काल के संपादक पराजये को 19 महीने की जेल हुई। बंगाल के 9 नेताओं को ‘देश निकाला’ की सज़ा मिली। मद्रास के चिदंबरम् पिल्लै और आंध्र के हरि सर्वोत्तम राव को जेल में बंद कर दिया गया। सरकार ने सभी समाचारपत्रों पर नियंत्रात्मक जांच लागू कर दी, सभाओं पर प्रतिबंध लग गये और क्रांतिकारी संगठनों के विरुद्ध उत्पीड़क कार्रवाइयां शुरू की। अरविंद के पांडिचेरी में पलायन और धर्म के लिए राजनीति और राष्ट्रीय आंदोलन का परित्याग करने के निर्णय के साथ इस खुले आंदोलन का अंत हो गया।

राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादियों ने एक शानदार अध्याय जोड़ा। उन्होंने उसके उद्देश्यों को स्पष्ट किया। जनता को आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की सीख दी। आंदोलन

में निम्न मध्यवर्गीय लोगों, छात्रों, युवकों और स्त्रियों को शामिल करके उसके लिए एक सामाजिक आधार तैयार किया। राजनैतिक संगठन के नये तरीकों और राजनैतिक संघर्ष की नयी विरोधों का सूत्रपात हुआ। इसी के साथ-साथ कुछ पुरानी दुर्बलताएं भी चलती रही। आम जनता के बहुसंख्यक, मजदूर और किसान, राष्ट्रवादी राजनीति की मुख्य धारा से अभी भी बाहर थे। जब संघर्ष संगठित करने के प्रयत्न की वीरतापूर्ण बातें करने के बावजूद उस तरह के संघर्ष कुल मिलाकर गायब थे। अवज्ञा आंदोलन और असहयोग मात्र विचार थे। राजनीतिक संघर्ष के तरीकों को ढूंढने का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। अभी भी देश एक प्रभावशाली राष्ट्रीय संगठन से वंचित था। पूंजीवाद की चौहदियों के पार भी नहीं पहुंचा जा सका था। तिलक तथा अन्य नेता अभी भी मानते थे कि सामाजिक और आर्थिक विकास पूंजीवादी रास्तों में सीमाबद्ध था। अंतिम बात यह कि जुझारू राष्ट्रवादियों ने प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों की तरह भारत को अनेक धर्मों, जातियों और क्षेत्रों का देश होने की संपूर्ण विशेषता का अनुभव नहीं किया। उनके युद्धोन्मुखी साम्राज्यवादी विरोध ने राष्ट्र को ठोस बनाने की दिशा में बड़ी छलांग लगाई, लेकिन उसे जाति और हिंदू चरित्र से जोड़कर उन्होंने राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया को दुर्बल किया। इसी के कारण बाद के वर्षों में भयंकर सांप्रदायिकता पैदा हुई।

राष्ट्रवादी आंदोलन की शक्ति और व्यापकता के बावजूद बंगाल के विभाजन को रद्द नहीं किया गया बल्कि उल्टे सरकार पहले से भी अधिक दमनकारी हो गयी। इन दोनों तथ्यों ने विद्रोही मनस्थिति वाले बैचन युवकों के दिमाग पर तात्कालिक प्रभाव डाला। उग्रपंथी गुट के नेता तिलक ने बहुत पहले (बंगभंग आंदोलन से भी पहले) अपने युवक अनुयायियों के मन को इतना उत्तेजित कर दिया था जो उनसे निजी तौर पर आतंकवादी कार्य कराने के लिए काफी था। बहुत पहले यानी सन् 1897 में पूना के दामोदर और बालकृष्ण चिपलुणकर बंधुओं ने दो बदनाम अंग्रेज अफसरों की हत्या कर दी थी। बाद में अरविंद घोष ने कुछ क्रांतिकारी गतिविधियों की सचमुच योजना बनायी थी। बंगाल के विभाजन के बाद की घटनाओं ने बहुत से युवक भारतीयों की क्रांतिकारी भावना को उभार दिया। उन्होंने बम, पिस्तौल और आतंक के निजी कामों का रास्ता अपनाया। सविनय अवज्ञा और संवैधानिक आंदोलन पर से उनका विश्वास उठ गया। उन्होंने सोचा कि अंग्रेजों को निश्चय ही ताकत से पछाड़ना होगा। बारिसाल अधिवेशन को पुलिस द्वारा भंग कर दिये जाने के बाद क्रांतिकारियों के विश्वास को अभिव्यक्ति देते हुए 22 अप्रैल, 1906 को जुगांतर ने एक संपादकीय में लिखा : “निन्दान स्वयं जनता के पास है। दमन के अभिशाप को रोकने के लिए भारत में बसने वाले 30 करोड़ लोगों को अपने 60 करोड़ हाथ उठाने ही चाहिए। निश्चय ही, ताकत को ताकत से ही रोकना होगा।”

बहरहाल, इन युवक आतंकवादियों ने ऐसी क्रांति को संगठित या आयोजित नहीं किया जो हिंसा पर आधारित हो और उसमें सारा देश और उसकी जनता शामिल हो। उन्होंने आयरी आतंकवादियों और रूसी निषेधवादियों के चरण-चिन्हों पर चलना और उन अधिकारियों की हत्या करना बेहतर समझा, जो अपने भारत विरोधी रवैये या अपने दमनकारी कामों की वजह से बदनाम हो गये थे। विचार यह था कि शासकों के दिल में आतंक पैदा कर दिया जाये, जनता को राजनैतिक दृष्टि से

उभारा जाये और अंततः अंग्रेजों को भारत से खदेड़ दिया जाए। इसकी प्राकृति ही ऐसी थी कि योजना, संगठन, भर्ती और प्रशिक्षण गुप्त ढंग से करना था। कार्यवाइयां भूमिस्थ होनी थी। बंगाल और महाराष्ट्र में खासतौर पर गुप्त समितियां बनायी गयी। उनमें से कुछ न भौतिक संस्कृति, क्लबों या संघों में भेष में काम किया। इनमें से ढाका की अनुशीलन समिति, कोलकाता के जुगांतर और सावरकर बंधुओं द्वारा महाराष्ट्र में गठित मित्रमेज्ञा काफी विख्यात हुए। वी.डी. सावरकर के विदेश चले जाने के बाद उनके बड़े भाई गणेश ने अभिनव भारत समाज की स्थापना की। शीघ्र ही इसकी शाखाएं सारे पश्चिमी भारत में फैल गई।

क्रांतिकारी आतंकवाद की तरफ जनता का ध्यान गंभीरतापूर्वक तब गया, जब खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी नाम के दो युवकों ने मुजफ्फरपुर के जिला जज की हत्या का प्रयत्न किया। बहरहाल, बम से दो निर्दोष महिलाओं की जाने गई। खुदीराम गिरफ्तार कर लिये गये। प्रफुल्ल ने समर्पण करने के बदले आत्महत्या कर ली, अलीपुर में अरविंद घोष, उनके भाई वारीन तथा अन्य लोगों पर षडयंत्र के आरोप में मुकद्दमा चला लेकिन जेल के अहाते में ही क्रांतिकारी आतंकवादियों द्वारा मुखबिर की हत्या कर दिये जाने से मुकद्दमों की सुनवाई में बाधा पैदा हो गयी थी। जांच करने वाले अधिकारियों और इस्तगासे की पैरवी करने वालों की भी एक-एक करके हत्या कर दी गई। अरविंद छूट गये थे लेकिन अगली पंक्ति के उनके चार साथियों को 'देश निकाला' देकर अंडेमान भेज दिया। मुखबिर की हत्या करने वाले सत्येन बसु और कन्हाई दत्त को फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

महाराष्ट्र में नासिक, मुम्बई और पूना बम उत्पादन के केन्द्र बन गये। वायसराय की हत्या की कोशिश हुई। नासिक के जिलाधीश जैकसन को एक विदा समारोह में गोली मारी गई। इस घटना के पहले एल.धींगरा ने इंडिया ऑफिस, लंदन के एक अधिकारी कर्जन बिली की हत्या अमानुषिक देश निकाला और भारतीय युवकों की फांसी के विरोध में की थी। उसे मृत्युदंड मिला। मृत्यु से पहले उसने लिखा: "भारत को केवल यह सबक सीखने की जरूरत है कि कैसे मरा जाता है, और इसको सिखाने का केवल एक ही तरीका है स्वयं मरना"।

मद्रास राज्य में विपिनचंद्र पाल के प्रभावपूर्ण भाषणों से लोग उत्तेजित हो गये। चिंदबरम् पिल्लै ने स्पष्ट रूप से पूर्ण स्वतंत्रता की बात कही। उनकी गिरफ्तारी के कारण तूतीकोरन और तिनेवेल्ली में भयंकर दंगे हुए, जिसमें पुलिस ने आज्ञा न मानने वाली भीड़ पर गोली चलायी। आशे (जिसने तिनेवेल्ली में गोली चलाने का आदेश दिया था) की भारत माता संघ के वाची अय्यर ने हत्या कर दी। भागने में विफल होकर अय्यर ने खुद को गोली मार ली।

पंजाब का गुप्त संगठन बार-बार के अकालों और लगान तथा सिंचाई में वृद्धि के कारण फला फूला, निहरी बस्तियों में रहने वालों को भय था कि उनकी मिल्कियत के अधिकारों को बाधित किया जायेगा। बेगार प्रथा ने आक्रोश को जन्म दिया। बंगाल की घटनाओं ने पंजाबियों को अतिरिक्त ढंग से उत्तेजित किया। सन् 1857 के विद्रोह की 50वीं जयंती नजदीक आ रही थी। भाषणों में बार-बार सिख रेजीमेंट को विद्रोह करने का आह्वान किया जा रहा था। लाजपतराय के पंजाबी का मुकद्दमा शुरु होने के बाद यूरोपियों पर लाहौर में आक्रमण हुए और रावलपिंडी में दंगे भड़के। अजितसिंह

इस आंदोलन के मूल प्रेरणास्त्रोत थे और उन्हें आगा हैदर तथा सैयद हैदर रजा ने सहायता दी। लाजपतराय और अजितसिंह के 'देश निकाला' के बाद वातावरण कुछ समय तक शांत रहा।

रासबिहारी बोस (जो उन दिनों देहरादून में क्लर्क थे), बंगाल और पंजाब के बीच संपर्क के माध्यम बने। बंगाल में बना एक बम 23 दिसंबर, 1912 को लार्ड हार्डिंज़ पर तब फेंका गया था जब वह दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे। ऐसा यह साबित करने के लिए किया गया कि दमन और सुधार की नीति उनकी लिबर्टी नाम की प्रचुर पुस्तिकाओं, जुगांतर की पुस्तिका के साथ क्रांतिकारी समाचारपत्रों की परंपरा को चलाती रहीं।

कुछ आतंकवादी क्रांतिकारी देश से बाहर गये और यूरोप में एक केन्द्र की स्थापना की। उन्होंने या तो उन देशों से सहायता प्राप्त करने की योजना बनाई, जिनके संबंध ब्रिटेन से मित्रतापूर्वक नहीं थे या हथियार प्राप्त करके गुप्त रूप से अपने भारतीय मित्रों के पास भेजना चाहा। श्यामजी कृष्णा वर्मा, वी.डी. सावरकर और हरदयाल लंदन गये। यूरोप में मैडम कामा और अजित सिंह मुख्य थे।

आतंकवादियों ने स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक रंगीन और प्रेरणादायक अध्याय जोड़ा। अपने खतरनाक कामों, साहसिक योजनाओं, नपी तुली, क्रियाओं और मृत्यु के प्रति निस्संगता के कारण उन्होंने राष्ट्र की स्मृति में एक स्थायी जगह बना ली लेकिन सारे आदर्शों और दुःखों के बावजूद उनकी असफलता निश्चित थी। निजी स्तर पर किये गये हिंसा के कामों ने (भले ही वे कितने ही वीरोचित क्यों न रहे हों) जनता को संचालित नहीं किया। अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ साम्राज्यवाद उससे आसानी से निपट सकता था। एक कड़ी में प्रडयंत्र के बहुत से मुकद्दमों की कायमी, निर्मम प्रजाओं और सख्त कानून ने उनकी कमर तोड़ दी। समाचारपत्र (अपराध उत्तेजन) विधेयक, आपाधिक कानून संशोधन विधेयक, विस्फोटक सामग्री विधेयक और भारतीय प्रेस विधेयक हथियार के रूप में नौकरशाही के शस्त्रागार में जुड़ गये। दूसरे, अधिकतर समय में आतंकवादी बिना किसी केंद्रीय नेतृत्व और समान योजना के एक दूसरे का उद्देश्य काट देने वाले काम करते रहे। तीसरे, जनता के बीच में उनका आधार नहीं था। एक कारण और, गुप्त संगठन होने के नाते वे जनता को अपना विश्वासपत्र नहीं बना सकते थे। यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि 'समितियों' में मध्यवर्गीय शिक्षित भरे हुए थे, जिनका किसानों-मजदूरों से कोई संपर्क नहीं था। नरमपंथियों ने खुले रूप में उन्हें अस्वीकृत कर दिया और बहुत से उग्रपंथियों ने उन्हें अपनाने में अनिच्छा दिखायी।

लेकिन अपने-आप में इतना पूर्ण त्याग बिल्कुल बेकार नहीं जाता। देश उन शहीदों को याद करता रहा, क्योंकि 'उन्होंने हमारे पौरुष का स्वाभिमान वापस दिया।'

कुछ समय के लिए युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी ने सरकार को विवश कर दिया कि वह समझौते के कदम उठाने पर विचार करे। दमन के कदम उठाने के साथ-साथ सरकार ने मुस्लिम पृथक्तावाद को प्रोत्साहित करने और संवैधानिक सुधारों के नाम पर नरमपंथियों और उग्रवादियों को अलग-अलग कर देने का प्रयत्न किया। कर्जन के उत्तराधिकारी वायसराय मिंटो ने फूट डालो

और शासन करो का खेल खेलने का निश्चय कर लिया था। आगा खां के नेतृत्व में अक्टूबर, 1905 में मुसलमान नेताओं का एक प्रतिनिधिमंडल उनसे शिमला में मिला और उनसे सांप्रदायिक निर्वाचन मंडल और अपने वर्ग के लिए अधिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था का आश्वासन प्राप्त कर लिया। अंत में जब सन् 1909 में मार्ले-मिंटो सुधार आया तो उसकी शर्तों पर बहुत कम लोगों को संतोष हुआ।

हर प्रांत तथा गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में सदस्य के रूप में एक भारतीय की नियुक्ति होनी थी। शाही और प्रांतीय परिषदों की सदस्य संख्या में वृद्धि कर दी गई लेकिन उनके चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। केन्द्र में सरकारी बहुमत को कायम रखा गया, जिसमें अधिकतम 60 सदस्यों में से केवल 27 का चुनाव एक सीमित निर्वाचन मंडल द्वारा किया जाना था। यद्यपि प्रांतीय विधानसभाओं में गैरसरकारी सदस्यों का बहुमत था, मनोनीत सदस्य आमतौर पर निर्वाचित सदस्यों के विरुद्ध सरकार के पक्ष में मत देते थे। केन्द्रीय विधायिका के लिए मुख्यतः तीन प्रकार के निर्वाचन मंडल थे : (1) सामान्य, जिसमें प्रांतीय विधान परिषदों के गैर सरकारी सदस्य थे, (2) आरक्षित वर्ग जैसे मुसलमान और भू-स्वामी और (3) विशिष्ट, जैसे विश्वविद्यालय और वाणिज्य संघ। प्रांतीय परिषदों में गैरसरकारी सदस्यों के बड़े भाग का चुनाव स्वायत्तशासी संस्थाओं के समूह, भू-स्वामियों, व्यापारियों और विश्वविद्यालय द्वारा किया जाना था। मुसलमानों, भू-स्वामियों, और यूरोपियों को आरक्षित स्थान मिले। स्त्रियों को मतदान का अधिकार नहीं था। गवर्नर या गवर्नर जनरल किसी भी व्यक्ति को राजनैतिक दृष्टि से अवांछनीय मानकर अलग कर सकते थे।

विधायिका के अधिकार सीमित थे। केवल वही सदस्य पूरक प्रश्न कर सकता था, जिसने (मूल) प्रश्न किया हो। रियासतों और सेना जैसे सार्वजनिक हित के क्षेत्रों को बहस और प्रस्ताव की परिधि से निकाल दिया गया था। बजट के अलग-अलग विषयों पर बहस और मतदान की अनुमति थी लेकिन समग्र बजट पर न मतदान किया जा सकता था, न प्रस्ताव रखा जा सकता था।

नरमपंथी समझौता करने के इच्छुक थे लेकिन जब मोरले ने कहा कि सुधार का मतलब कभी भी संसदीय ढंग की सरकार कायम करना नहीं है, तब उन्होंने महसूस किया कि मार्ले ने उनके सा छल किया है। अयोग्य घोषित करने का ऐच्छिक अधिकार, समिति निर्वाचन, केन्द्र में सरकार व बहुमत और प्रांतों में गैरसरकारी बहुमत का फरेब, बहस पर प्रतिबन्ध और बजट को प्रभावित करने के सीमित अधिकार से नरमपंथियों का भग्न टूट गया। वे केवल एक प्रभावहीन प्रतिपक्षी की भूमिका अदा कर सकते थे। कांग्रेस ने एक दल की हैसियत से सांप्रदायिक निर्वाचन मंडल को अस्वीकृत कर दिया। नरमपंथी पर भयंकर राजनीतिक आक्रमण किये, जिनका प्रभाव राजी से घट रहा था। मुस्लिम पृथक्तावाद को प्रोत्साहन मिलने की वजह से जाति, क्षेत्र और भाषा की संकीर्णता से मुक्त एक व्यापार राष्ट्रीय आंदोलन संगठित करने का काम और मुश्किल हो गया। सुधारों का वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रवादी नेताओं को विभाजित कर देना और भारतीयों की एकता की वृद्धि को रोकना था।

सन् 1911 में लार्ड हॉर्डिंग ने बंगाल के विभाजन को रद्द करके भारतीय जनमत को संतुष्ट करने की कोशिश की। बिहार और उड़ीसा को बंगाल से काटकर अलग कर दिया गया। आसाम को एक अलग प्रांत बना दिया गया। इसी के साथ-साथ राजधानी दिल्ली ला दी गई है।

विभाजन के रद्द कर दिये जाने से बंगाली भावना कुछ दूर तक सं-ट हुई लेकिन अशांति के मूल कारणों को दूर नहीं किया गया। प्रमाण के लिए सन् 1910 के प्रेस विधेयक या जुझारू राष्ट्रवादिता के विकास को रोकने के उद्देश्य से आपराधिका कानून संशोधन विधेयक (1980) के अंतर्गत गठित विशेष न्यायाधिकरण इनका इस्तेमाल दमन के लिए किया जाता था।

भारतीय राष्ट्रवादिता का जन्म और विकास 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के वर्षों में हुआ। इस प्रारंभिक चरण में राजनीतिक चेतना की दृष्टि से मुसलमान पीछे थे। राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार मध्यम और निम्न मध्यवर्ग हिन्दुओं और पारसियों में हुआ। लेकिन यह प्रसार उसी रूप में मुस्लिम संप्रदाय के उसी धरातल के सामाजिक वर्ग में नहीं हुआ।

अंग्रेजों के भारत में आने और धीरे-धीरे यहां की ज़मीन पर अपनी सरकार कायम करने के पहले तक हिंदू और मुसलमान जनता में कुल मिलाकर कोई आपसी कड़वाहट या वैरभाव नहीं था। यद्यपि दोनों धर्मों में ऐसी कुछ प्रवृत्तियां थी जो एक दूसरे के लिए खलने वाली थी। समाज का विभाजन वर्गों के आधार पर था। धनी थे और गरीब थे, शिक्षित थे अनपढ़ थे, शासक थे और प्रजा थी। इन दोनों वर्गों और गुटों में हिंदू भी थे और मुसलमान भी। मुगल काल में भी ऐसा ही था यहां तक कि सन् 1857 के विद्रोह में हिन्दुओं और मुसलमानों ने साथ-साथ कंधे से कंधा मिलाकर उस एक मात्र विदेशी सरकार से युद्ध किया, जिसके हाथों सारा भारत तकलीफ उठा रहा था। हिंदुओं मुसलमानों दोनों ने अपना क्रोध उसी विदेशी शासन पर उतारा।

विद्रोह के दबा दिये जाने के बाद अंग्रेज खासतौर पर मुसलमानों के प्रति कठोर थे, क्योंकि उन्होंने यह नतीजा निकाला था कि विद्रोह का नेतृत्व मुसलमानों ने किया था और वे ही इसके लिए पहले ज़िम्मेदार थे। अनुमान किया जाता था कि विद्रोह के दौरान और ठीक उसके बाद के दिनों में केवल दिल्ली में 27 हजार मुसलमानों को मौत की सजा दी थी। बहुत साल तक अंग्रेज मुसलमानों को संदेह की निगाह से देखते रहे।

फिर भी राष्ट्रीय आंदोलन के जन्म के साथ ब्रितानी दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। सन् 1870-80 के बीच दृष्टिकोण का यह परिवर्तन अधिक से अधिक स्पष्ट हुआ। यह परिवर्तन भी राजनीति से प्रेरित था। ठीक वैसे ही जैसे उन्होंने अन्य अनेक काम उसी राजनैतिक दृष्टि से किये या करने की कोशिश की। यह एक प्रकार की चाल थी, जिसे उन्होंने अपने हितों की रक्षा के लिए अपनाया था। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रचार और प्रसार के साथ एक खतरा पैदा हुआ कि उससे जनता संगठित होगी और साम्राज्य के सामने एक भयंकर समस्या उपस्थित हो जायेगी। एक संगठित जनता को बहुत दिनों तक गुलामी की जंजीरों में बांधे नहीं रखा जा सकता। अतः दमन और नियंत्रण के सख्त कदमों के अतिरिक्त, अंग्रेजों ने कोशिश की कि अगर संभव हो तो राष्ट्रीयता के ज्वार को पूरे तौर पर सुखा दिया जाये। उन्होंने फैसला किया कि जनता को असंगठित रखने, उन्हें आपस में झगड़ने और प्रतिस्पर्द्धा करते रहने के लिए, वे सब कुछ करेंगे जो कर सकते थे। विभिन्न धर्मों के नाम पर लोगों को बांटने और भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने का निर्णय किया। उन्होंने

मुसलमान अल्पसंख्यकों का पैरवीकार होने का दावा किया और मुसलमानों, ज़मींदारों, भू-स्वामियों और मध्यवर्ग के शिक्षितों को अपने पक्ष में लाने की कोशिश की। उन्होंने बंगाली आधिपत्य की बात करके, प्रतिवादिता को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। भारतीय समाज ढांचे का अपने हितों के लिए नाजायज फायदा उठाने के लिए उन्होंने ब्राह्मणों को गैरब्राह्मणों के और छोटी जाति को ऊंची जाति के विरुद्ध भड़काने की कोशिश की। अदालतों में हिंदी की जगह पर उर्दू लाने के आंदोलन में मदद देकर उन्होंने उत्तर प्रदेश और बिहार के हिंदू-मुसलमानों के बीच सामाजिक और सांप्रदायिक कड़वाहट को जन्म दिया। इस प्रकार भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की उचित मांगों और उसकी जनतंत्रीकरण की समस्याओं का अपने हित में नाजायज फायदा उठाकर उन्होंने देश के लोगों में असंगति पैदा की। भारत की सामाजिक स्थिति काफी उलझी हुई थी। संस्कृति और समाज के बहुत से अंदरूनी प्रश्नों, सही और गलत, का बुरी तरह से घालमेल हो गया था और उन्हें सावधानीपूर्वक तथा धैर्य के साथ अलग करना था। विदेशी शासकों ने इस उलझाव का इस्तेमाल अपने उद्देश्यों के लिए किया।

मुसलमानों की सांप्रदायिकता को उभारने में सैय्यद अहमद खां ने एक बड़ी भूमिका निभाई। शुरुआत उन्होंने एक महान शिक्षाविद और समाज सुधारक के रूप में की। उन्होंने कुरान की शिक्षा को आधुनिक विचारों के आधार पर चलाने की कोशिश की और सेवा के मूल्य पर बल दिया। उनके इस दृष्टिकोण के कारण उनमें और कट्टरपंथी मुसलमान नेताओं में तीखा मतभेद पैदा हुआ। इस दौर में सैय्यद अहमद खां हिंदुओं और मुसलमानों के नज़दीकी सहयोग में विश्वास करते थे। अलीगढ़ में मोहमडल एंग्लो-ओरियेंटल कॉलेज की स्थापना के लिए उन्हें हिंदुओं और मुसलमानों दोनों से अनुदान प्राप्त हुआ। लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विकास के साथ उनके मन में मुसलमानों की स्थिति को लेकर भय पैदा हुआ। यह भय खासतौर से उन मुस्लिम ज़मींदारों की स्थिति को लेकर था जिन्होंने उन्हें समर्थन दिया था। अंग्रेजों ने भी परदे के पीछे से चाल चली। सैय्यद अहमद खां ने अब दावा किया कि वे हिंदू और मुसलमानों के हित न केवल भिन्न बल्कि अंतविरोधी थे। वह पूरी तौर पर (ब्रिटिश शासन के प्रति) वफ़ादार हो गये और अब सन् 1885 में भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई, तो उन्होंने उसका विरोध किया और ब्रितानी राज के प्रति अपनी वफ़ादारी की कसम खाते हुए राजा शिवप्रसाद के साथ कांग्रेस की काट करने वाला एक आंदोलन संगठित किया। उन्होंने अपने अनुयायियों को बताया कि यदि अंग्रेज चले गये तो बहुसंख्यक हिंदुओं का राज होगा और वे अल्पमत मुसलमानों के प्रति ईमानदार नहीं होंगे। उन्होंने मुसलमानों को सलाह दी कि वे कांग्रेस में शामिल न हों। हालांकि बदरुद्दीन तैयबजी जैसे नेताओं ने मुसलमानों से कहा कि वे नये राष्ट्रीय संगठन में आयें।

सैय्यद अहमद खां जैसे मुसलमान नेताओं के विचार अवैज्ञानिक, युक्तिहीन और तथ्यों के विपरीत थे। यद्यपि हिंदू और मुसलमान अपने भिन्न धर्मों में विश्वास करते थे लेकिन उनके आर्थिक और राजनीतिक हित समान थे। यहां तक कि सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदू-मुसलमान दोनों का एक ही तरह से दमन और शोषण किया था। अहमद खां ने स्वयं सन् 1884 में कहा था:

क्या तुम उसी धरती के वासी नहीं हो ? क्या तुम उस धरती पर जलाये या दफन नहीं किये जाते ? क्या तुम उसी के मैदान पर पांव रख कर नहीं चलते, उसी धरती पर नहीं रहते ? याद रखो कि हिन्दू और मुसलमान शब्द धार्मिक पहचान के लिए हैं अन्यथा सभी मनुष्य, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान हों, यहां तक कि इस देश में रहने वाले ईसाई हो, इस विशेष अर्थ में एक हैं कि वे उसी एक राष्ट्र के हैं। तब विभिन्न संप्रदाय के लोगों को एक राष्ट्र कहा जा सकता है। उनमें एक-एक को, सभी को देश के हित के लिए संगठित होना चाहिए, जो समान रूप से सभी का है।

अतः यह जानने योग्य है कि कैसे मुसलमानों के एक बड़े वर्ग में सांप्रदायिक आधार पर सोचने का एक नया तरीका पैदा हुआ।

कुछ हद तक इसका कारण यह है कि मुसलमान शिक्षा, उद्योग और व्यापार में अपेक्षाकृत पिछड़े हुए थे। मुसलमानों का उच्च वर्ग अधिकतर जमींदारों और आभिजात्यों का था। चूंकि 19वीं शताब्दी के पहले 70 वर्षों के दौरान मुस्लिम उच्च वर्ग रूढ़िवादी और आधुनिक शिक्षा का विरोधी था, अतः देश में पढ़े-लिखे मुसलमानों की संख्या बहुत कम बनी रही। परिणाम यह हुआ कि विज्ञान, जनतंत्र और राष्ट्रवादिता को बल देने वाली आधुनिक पश्चिमी विचारधारा का मुस्लिम बुद्धिजीवियों में प्रसार नहीं हुआ और वे पिछड़े और परंपरावादी बने रहे। बाद में सैयद अहमद खां, नवाब अब्दुल लतीफ, बदरुद्दीन तैयबजी आदि लोगों के प्रयत्न से मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार हुआ। लेकिन हिंदुओं, पारसियों और ईसाइयों की तुलना में शिक्षा का अनुपात मुसलमानों में अत्यंत कम था। इसी के साथ मुसलमानों ने उद्योग और व्यापार के विकास से भी बहुत थोड़ा हिस्सा लिया। उद्योग-व्यापार क्षेत्र के थोड़े से पढ़े-लिखे व्यक्तियों ने प्रतिक्रियावादी बड़े मुसलमानों जमींदारों को मुसलमान जनता का प्रभाव बनाये रखने में मदद की। जैसा कि हमने पहले ही देखा, भू-स्वामियों और जमींदारों ने चाहे वे हिन्दु रहें हो या मुसलमान, अपने निजी स्वार्थों के लिए ब्रितानी शासन को समर्थन दिया। लेकिन हिंदुओं में, आधुनिक बुद्धिजीवियों और उभरते हुए व्यापारियों-औद्योगिक वर्ग ने जमींदारी के हाथ से नेतृत्व छीन लिया था। दुर्भाग्यवश मुसलमानों में स्थिति इसके विपरीत थी।

शिक्षा के क्षेत्र को मुसलमानों के पिछड़ेपन का एक दूसरा नुक्सानदेह नतीजा सामने आया क्योंकि सरकारी नौकरियों और दूसरे पेशों में घुसने के लिए आधुनिक शिक्षा अनिवार्य थी। इससे भी मुसलमान, गैर-मुसलमानों की तुलना में पीछे रहे। अलावा इसके सन् 1858 के बाद सरकार ने जानबूझ कर मुसलमानों के विरुद्ध भेदभाव का बर्ताव किया, इसमें उन्हें सन् 1857 के विद्रोह का अधिक जिम्मेदार ठहराया। जब मुसलमानों में अधिक शिक्षा का प्रसार हुआ तो कुछ शिक्षित मुसलमानों को शिक्षित हिंदुओं के विरुद्ध भड़काना आसान था। सैयद अहमद खां तथा दूसरे नेताओं ने सरकारी नौकरियों के मामले में मुसलमानों के साथ विशेष प्रकार का रियायती व्यवहार किये जाने की मांग की। उन्होंने घोषणा की कि यदि शिक्षित मुसलमान ब्रिटेन के प्रति वफादार बने रहे तो सरकार उन्हें नौकरियां और दूसरी तरह की विशेष कृपा देकर पुरस्कृत करेगी। कुछ वफादार हिंदुओं और पारसियों ने भी इसी ढंग की कोशिश की लेकिन उनकी संख्या बहुत कम रही। नतीजा यह

हुआ कि कुल मिलाकर जब देश में स्वतंत्र राष्ट्रवादी वकील, पत्रकार, छात्र, व्यापारी और उद्योगपति राजनैतिक नेता बन रहे थे, मुसलमानों के वफादार ज़मींदार और अवकाश प्राप्त सरकारी-अधिकार ही राजनैतिक विचारधारा को प्रभावित कर रहे थे। मुम्बई महज एक ऐसा प्रांत था, जहां पर मुसलमानों ने काफी पहले से शिक्षा और व्यापार को अपना लिया था। वहां पर राष्ट्रवादी कांग्रेस में बदरुद्दीन तैयबजी, आर.एम.सयानी.ए. भीमजी और युवक बैरिस्टर मुहम्मद अली जिन्नाह जैसे तेज़ लोग थे। इसके अतिरिक्त बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब में भी आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने मुसलमानों में एक राष्ट्रवादी तबका पैदा किया, जिसने वफादार मुसलमानों के नेतृत्व के एकाधिकार को तोड़ा। समस्या के इस पहलू को हम जवाहर लाल नेहरू की 'द डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' के इस उद्धरण द्वारा संक्षेप में रख सकते हैं।

हिंदुओं और मुसलमानों के मध्यवर्ग के विकास में एक पीढ़ी का बल्कि उससे भी अधिक का अंतर रहा है। वह अंतर राजनैतिक, आर्थिक तथा बहुत-सी दिशाओं में अभी भी दिखाई दे रहा है। यह कमी ही वह कारण है जो मुसलमानों में भय के मनोविज्ञान को पैदा करती है।

इस दौर में सांप्रदायिक ढंग के चिंतन के विकसित होने का एक और महत्वपूर्ण कारण था। भारतीय इतिहास को अंग्रेज़ इतिहासकारों ने एक विशेष व्यंग्यात्मक मोड़ देकर प्रस्तुत किया। बाद में, दुर्भाग्यवश उनेक भारतीय प्रतिरूपों ने लेखन और शिक्षण में उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुसरण किया। इन नक्कू इतिहासकारों ने इतिहास को दिशा ही इस ढंग से दी जिसने सांप्रदायिक भावनाओं को उभारा और सहारा दिया। प्रमाण के लिए प्रचीन काल को हिंदू काल और मध्यकाल को मुस्लिम काल के नाम से पुकारा गया। मध्यकाल में तुर्क, अफगान और मुगल वंश ने राज्य किया था। उनके शासन के गुण और चरित्र की व्याख्या करने के बजाय सभी को एक साथ मुसलमान मान लिया गया और उस काल को मुस्लिम काल कहा गया। मुस्लिम काल की बात करने का अर्थ था कि शासक सभी मुसलमान थे और प्रजा सारी हिंदू। वस्तुतया तथ्य यह था कि शासक, अमीर, सरकार और ज़मींदार चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान दोनों ही वर्गों की जनता के साथ एक ही तरह का ऐसा घृणित और अपमानजनक बर्ताव करते थे, गोया वे एक हीनतर जीव हों और उसका इस्तेमाल उनके (शासकों) लाभ के लिए किया जाना हो। मुसलमान जनता भी करों के कारण उतनी ही दमित और गरीब थी जितनी हिंदू जनता। इन इतिहासकारों ने यह महसूस नहीं किया कि प्राचीन और मध्ययुग में भारत में राजनीति का वही स्वरूप था जैसा अन्य जगहों में। उसने शासकों के राजनैतिक और आर्थिक हितों के लिए अपेक्षित अनुदेशों का अनुसरण किया। उसमें मुश्किल से किसी धार्मिक विचारणा को जगह दी। निःसन्देह, शासकों और उनके विद्रोहियों, दोनों ने जनता को गुमराह करने के लिए धर्म के बाहरी रूप का प्रायः इस्तेमाल किया और अपने वास्तविक भौतिक हितों और आकांक्षाओं पर मुखौटा लगा दिया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे उद्देश्य अपने आप में धार्मिक या सांप्रदायिक थे। यह भी कि ब्रिटेन और भारत के मास्रदायिक इतिहासकारों ने भारत की मिली जुली संस्कृति पर बल नहीं दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत का सांस्कृतिक स्वरूप बहुविध था लेकिन उसमें एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकरूपता का एक धागा था। इसमें भी महत्वपूर्ण यह है कि विविधता वर्गों और क्षेत्रों के अनुसार थी, न कि धर्म के अनुसार, हिंदू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति की विशिष्टता और अलगाव की भ्रामक अवधारणा को सामने लाकर इतिहास

के शिक्षण ने विभाजन प्रवृत्तियाँ पैदा कीं। धार्मिक सुधार के आंदोलन का भी वैसा ही प्रभाव पड़ा। इन आंदोलनों की एक महत्वपूर्ण देन यह थी कि उन्होंने युक्तिहीन और अस्पष्ट चिंतन का विरोध किया, विवेकसम्मत और मानवीय विचारों का प्रसार किया, उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक विश्वास और आचार में समाये हुए भ्रष्ट तत्वों को निकाल फेंका और भारतीय जनता में तीव्रतर आत्मविश्वास की भावना जगाई। लेकिन उसी के साथ उनमें से बहुतो ने हिंदुओं, मुसलमानों, सिखों, पारसियों में फूट डालने का प्रयत्न किया। उन्होंने उच्च वर्ग के हिंदुओं को नीची जाति के हिंदुओं से अलग करने की भी कोशिश की। किसी भी बहुधर्मी देश का धर्म पर अत्यधिक बल देने का अनिवार्य परिणाम विभाजन ही होता है, उसके अलावा सुधारों ने एकपक्षीय ढंग से सांस्कृतिक उत्तराधिकार के धार्मिक और दार्शनिक पहलुओं पर बल दिया। ये पहलू देश के सभी लोगों के समान उत्तराधिकार नहीं थे। दूसरी तरफ कला, वास्तुकला, साहित्य, संगीत, विज्ञान और तकनीक जैसे विषयों पर बल नहीं दिया। जबकि उनमें ही वर्ग के लोगों ने समान भूमिका निभाई थी। इसके साथ हिंदू सुधारवादियों ने अपने को निश्चित रूप से अतीत को गौरव गान तक सीमित रख लिया। यहां तक स्वामी विवेकानंद जैसे उदारमना व्यक्ति ने भी इस अर्थ में भारतीय आत्मा या भारत के अतीत की उपलब्धियों की बात की। पूरी तरह बहुत से मुस्लिम सुधारवादियों ने अपनी परंपरा और गौरव के क्षणों की तलाश में निगाह पश्चिमी एशिया पर डाली। इस प्रकार सुधारवादियों के कार्यकलापों ने दो भिन्न तरह के लोगों का विचार पैदा किया। अलावा इसके धार्मिक सुधार के आंदोलनों ने अपने को महज सुधार के पहलुओं तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने दूसरे धर्मों के विरुद्ध युद्ध की भी शुरुआत की और इस रूप में उन्होंने देश को 20वीं शताब्दी सांप्रदायिकता के विकास में योग दिया।

राजनीति का सांप्रदायिक दृष्टिकोण अवैज्ञानिक और युक्तिहीन था लेकिन उसने उस भयवृत्ति का छलपूर्ण इस्तेमाल किया, जिससे एक अल्पसंख्यक पीड़ित रहता है। ऐसी परिस्थिति में बहुसंख्यक धर्म वालों की यह जिम्मेदारी होती है कि वे अपने रवैये और व्यवहार द्वारा अल्पसंख्यक वर्ग को यह विश्वास दिलायें कि उनकी संख्या का इस्तेमाल उसे आहत करने के लिए नहीं होगा। उन्हें अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्यों को केवल यही विश्वास नहीं दिलाना चाहिए कि उनका धर्म और उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताएं सुरक्षित रहेंगी बल्कि उन्हें यह भी सहसूस करायें कि आर्थिक और राजनैतिक मसलों पर जो भी निर्णय किये जायेंगे, उनका शुद्ध आधार धर्मनिरपेक्ष दृष्टि होगी और उन निर्णयों तक पुहंचने में धर्म का कोई लिहाज नहीं होगा। वास्तव में प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने ठीक यही किया था। उन्होंने राष्ट्र, अर्थस्थिति और राजनीति के समान हितों के आधार पर जनता को संगठित करने और उसे एक राष्ट्र में एकबद्ध करने की कोशिश की। उन्होंने आश्वासन दिया कि जनता के धार्मिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं होगा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् 1889 में यहां तक स्वीकार किया कि ऐसा कोई प्रस्ताव अनुमोदित नहीं किया जायेगा, जिसे मुस्लिम प्रतिनिधियों के बहुसंख्यक हानिकारक मानेंगे। दूसरे शब्दों में, प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों ने जनता को यह सीख देकर कि राजनीति धर्म और संप्रदाय पर आधारित नहीं होनी चाहिए, उसके राजनैतिक दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया।

दुर्भाग्यवश, बाद के कुछ नेताओं ने धर्मनिरपेक्ष राजनीति के इस बृद्धिमत्तापूर्ण सिद्धांत का सख्ती से पालन नहीं किया। जुझारू राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक बड़ी गति दी। वे जनता को

शक्ति और उत्साह के साथ आगे लाये। लेकिन उनके कुछ कार्यों से सांप्रदायिकता का पुनः उभार हुआ। राष्ट्रीय एकता के विकास की दृष्टि से यह एक कदम पीछे लौटने जैसा था। उनके प्रचार और विज्ञापन जनता को उभारने में प्रभावकारी थे लेकिन उनमें पर्याप्त धार्मिक गंध थी। उन्होंने भारत की प्राचीन परंपरा पर बल दिया लेकिन उसमें मध्यकालिन भारतीय संस्कृति को शामिल नहीं किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति को (जिसे वे आर्यों का उत्तराधिकारी मानते थे) हिंदू धर्म और भारतीय राष्ट्र को हिन्दूओं से पहचाने जाने की प्रवृत्ति दिखायी। प्रमाण के लिए शिवाजी और गणपति पर्व का तिलक द्वारा आयोजन, भारत को मां और और राष्ट्रवादिता को धर्म मानने का अरविंद का अर्द्ध रहस्यवादी, अर्द्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण, आतंकवादियों का देवी काली के सामने शपथ ग्रहण, विभाजन विरोधी आंदोलन के मांगलिक उद्घाटन के लिए गंगा में शुद्धिस्नान आदि चीजें हर जगह सभी भारतीयों को पसंद नहीं आ सकती थी। उनमें एक सशक्त धार्मिक और एक ऊंची जाति के हिंदू का पूर्वाग्रह था। धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण वाले साधारण भारतीय तक एक शुद्ध राजनैतिक आंदोलन के इर्द गिर्द जुटने वाले धार्मिक पूर्वगंगों को, जबकि पसंद नहीं भी कर सकते थे, तब निश्चय ही मुसलमानों और कुछ अन्य धर्मानुरागियों ने उस प्रतिमा और संस्कार को अपने विश्वास और संवेदनशीलता के विरुद्ध पाया। इसी तरह धर्म और अतीत काल की अंधी प्रशंसा नीची जाति के भारतीयों को स्वीकार्य नहीं थी, क्योंकि वे शताब्दियों से उस विध्वंसक जातीय दमन से पीड़ित थे, जिसका प्राचीन काल में विकास हुआ था, इसके अतिरिक्त, यदि एक ने शिवाजी और प्रताप को राष्ट्रीय नायक बनाने की कोशिश की तो कोई भी स्वतः यह अर्थ निकाल सकता था कि मुगल सम्राट् राष्ट्रविरोधी थे। लेकिन तथ्य यह है कि औरंगजेब और अकबर भी उनते ही भारतीय थे, जितने शिवाजी और प्रताप। इसके अलावा वे सभी शासक वर्ग से संबद्ध थे। उनके पारस्परिक संघर्ष को, उनके विशेष ऐतिहासिक ढांचे में राजनैतिक संघर्ष की दृष्टि से देखा जाना चाहिए था। प्रताप और शिवाजी को राष्ट्रीय नायक और अकबर तथा औरंगजेब को 'विदेशियों' के रूप में देखने का अर्थ था बीते हुए इतिहास में सांप्रदायिक चिंतन ने उस वक्त के प्रचलित तरीकों को प्रक्षेपित करना। यह एक गंदा इतिहास और राष्ट्रीय एकता पर एक प्रहार, दोनों ही था।

सचमुच इसका यह अर्थ नहीं है कि जुझारू मुस्लिम विरोधी या कि मुख्यतया सांप्रदायिक दृष्टिकोण के थे बल्कि, इसके विपरीत उनमें से बहुत से लोग, खासकर तिलक आद्यंत हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्षधर थे। उनमें में अधिकतर अपने विचारों में आधुनिक और प्रगतिशील थे। यहां तक कि व्यवहार में आतंकवादियों को अपनी तरह के यूरोपीय देशों के उन आतंकवादियों से प्रेरणा मिली थी जो यह विश्वास करते थे कि आर्थिक परित्राण और राजनीतिक स्वतंत्रता केवल एक हिंसक क्रांति के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। लेकिन यह तथ्य तो अपनी जगह पर है ही कि युद्धोन्मुख राष्ट्रवादियों के राजनैतिक कार्यों और विचारों में एक निश्चित हिंदू रंगत थी। संभव है कि उनके अंतिम लक्ष्य धर्मनिरपेक्ष रहे हों लेकिन उनका बाहरी व्यवहार ऐसा नहीं था। अंग्रेजों और कांग्रेस समर्थक प्रचारकों ने इस तथ्य का चतुराई से लाभ उठाया। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत बड़ी संख्या में शिक्षित मुसलमान या तो राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति द्वेषी हो गये या उन्होंने अपने को उससे एकदम अलग रखा। इस प्रकार वे एक पृथकतावादी दृष्टिकोण के शिकार हो गये। लेकिन इसके बावजूद बैरिस्टर अब्दुल रसूल और हरसत मोहानी जैसे प्रगतिशील मुसलमान बुद्धिजीवियों ने बड़ी संख्या में स्वेदशी

आंदोलन में हिस्सा लिया। मुहम्मद अली जिन्ना राष्ट्रीय कांग्रेस के युवक नेताओं में से एक थे।

एक गरीब और पिछड़े हुए देश में (जिसे औपनिवेशिक शासक के अंतर्गत तेजी के साथ पिछड़ेपन की ओर ले जाया जा रहा हो), शिक्षित वर्ग के लिए विशेष रूप से नौकरी के अवसर सीमित होते हैं। इसीलिए उस दौर में सीमित संख्या वाली नौकरियों के लिए कड़ा मुकाबला था। दूरदर्शी भारतीयों ने देश की राजनैतिक और आर्थिक उन्नति के लिए काम किया। लेकिन परिस्थिति का, निहित स्वार्थ वाले अंग्रेजों और भारतीयों दोनों ने, सांप्रदायिक, धार्मिक, जातीय और क्षेत्रीय भावना को उभारने में नाजायज इस्तेमाल किया। हर वर्ग और गुट नौकरियों और अन्य जगहों (प्रतिनिधित्व की) में आरक्षण की जोरदार आवाज उठायी। तंग दिमाग और अदूरदर्शी किस्म के हिंदुओं और मुसलमानों ने अपनी अपनी राष्ट्रीयता की बात इस तरह करनी शुरू की गोया राष्ट्रीयता का विभाजन किया जा सकता था, या उसके बहुत से जातीय रूप थे, और बिना साम्राज्यवाद और निहित स्वार्थ वालों से संघर्ष किये ही आर्थिक कल्याण के कामों में अभिवृद्धि की जा सकती थी।

सांप्रदायिकता के सिद्धांत को एक चौखटे में ठोस स्वरूप सन् 1906 में तब दिया गया, जब आगा खां और ढाका के नवाब सलीमुल्लाह मोहिसनुल-मुल्क के नेतृत्व में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इस तरह का प्रतिगामी कदम उठाने की ज़िम्मेदारी शिक्षण मुसलमानों के एक स्वार्थी वर्ग, निहित स्वार्थी वाले प्रतिक्रियावादियों, मुसलमानों ज़मींदारों और उसके उच्च वर्ग की थी। लीग ने बंगाल के विभाजन का समर्थन किया और विशेष सुरक्षाओं और अलग से निर्वाचन मंडल की मांग की। अंग्रेज ऐसे अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने इसका पूरा फायदा उठाया और घोषणा की कि मुसलमानों के 'विशेष हितों' को सुरक्षित किया जायेगा। लीग ने वफादारी के साथ कांग्रेस की हर राष्ट्रीय जनतांत्रिक मांग का विरोध शुरू किया। बंगाल में वफादार लीगी नेता बड़े ज़मींदार थे और वे क्योंकि बंगाली नहीं थे, अतः वहां के लिए बाहरी थे। इसका परिणाम यह था कि बंगाली मुसलमानों की भावनाओं के लिए उनके मन में बहुत कम सहानुभूति थी।

लीग का शुरू से ही दावा था कि मुसलमानों के हित शेष राष्ट्र के हितों से भिन्न और विरुद्ध थे। लेकिन उसके इस दावे की मूलभूल असत्यता आधुनिक विचार वाले शिक्षित, युवा मुसलमानों के एक बड़े वर्ग पर स्पष्ट थी। वे क्रांतिप्रिय राष्ट्रवादी विचारधारा से आकर्षित थे। उन्होंने लीग में इस कथन को अस्वीकृत कर दिया कि वह सारे मुसलमानों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। अहरार आंदोलन इसी वक्त से आसपास मौलाना मुहम्मद अली, हकीम अजमलखां और मजहरुल हक जैसे नेताओं द्वारा शुरू किया गया था। वह जुझारू भी था और राष्ट्रवादी भी। इसी तरह परंपरागत मुसलमान विद्वानों के एक वर्ग ने देशभक्ति की भावना जगाई और सांप्रदायिक चिंतन के तरीकों को तिलांजलि देकर राष्ट्रवादी राजनीति में हिस्सा लिया। उनमें सबसे महत्वपूर्ण थे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद।

इस शताब्दी के दूसरे दशक के शुरू के कुछ वर्षों में तुर्की को पहले इटली से और बाद में बलकान शक्तियों से युद्ध करना पड़ा। उसी समय तुर्की सबसे अधिक ताकतवर मुस्लिम शक्ति था। मुसलमानों के अधिसंख्या तीर्थस्थल उसके साम्राज्य में थे। सन् 1857 तक भारतीय मुसलमानों ने राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से मुगल सम्राट् को अपने इमाम या गुरु के रूप में स्वीकार

किया था। मुगल सम्राट के सत्ताहीन होने और तुर्की साम्राज्य पर रूस के बढ़ते हुए प्रभाव के बाद ब्रिटेन ने तुर्की की सुरक्षा का फैसला किया और इस रूप में मुसलमानों के पैरवीकार रूप को उभारना चाहा। अतः उसने इस्लामी बंधुत्व के आंदोलन को प्रोत्साहन दिया इसका अर्थ यह था कि उसने तुर्की के मुलतान को सारे मुसलमानों का खलीफा होने की स्वीकृति दी। तुर्की शासक या खलीफा को सभी मुसलमानों का धर्मगुरु माना जाता था। तब तुर्की की सुरक्षा और कल्याण के सामने खतना पैदा हुआ तो भारतीय मुसलमानों ने उस पर तीखी प्रतिक्रिया की। मुसलमानों में अंग्रेज विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी भावना तेज़ी से उभरी। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि भारत के क्रांतिप्रिय युव मुसलमान राष्ट्रवादी धारा में शामिल हो गये, जो खुद भी साम्राज्यवाद विरोधी था। सन् 1912 और 1924 के बीच के कई वर्षों में राष्ट्रवादी युवा मुसलमानों ने वफादार मुस्लिम लीगियों का प्रभाव एकदम खत्म कर दिया था।

लेकिन इस तरह के विकासों का एक नकारात्मक पक्ष था। खिलाफत के प्रश्न को लेकर चलने वाले आंदोलन ने शिक्षित जुझारू, युवा मुसलमानों के चिंतन को गलत मोड़ दे दिया। बजाय इसके कि वे साम्राज्यवाद का विरोध इस आधार पर करते कि उसने जनता के आर्थिक और राजनीतिक हितों को कमजोर बनाया, उन्होंने विरोध इसलिए किया क्योंकि खिलाफत और तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत स्थित तीर्थस्थलों के सामने खतरा पैदा हो गया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन मिथकों, सांस्कृतिक परंपराओं और नायकों के नाम पर आग्रह किये उनका संबंध भारत के प्राचीन या मध्यकालीन इतिहास से न होकर पश्चिमी एशिया के इतिहास से था। इस प्रकार उनके राजनैतिक आग्रह का आधार भी धार्मिक भावनाएं थीं। आगे चलकर यह दृष्टिकोण भी राष्ट्रवादिता के विकास में क्षतिकारक सिद्ध हुआ, क्योंकि इसके आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों पर मुसलमान जनता में वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का विकास नहीं किया।

हालांकि इस दौर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध करने के लिए किसी सांप्रदायिक हिंदू संगठन या आंदोलन का जन्म नहीं हुआ लेकिन व्यापक पैमाने पर हिंदू सांप्रदायिकता का फैलना शुरू हो गया। किसी सांप्रदायिक हिंदू संगठन के स्वतंत्र रूप से स्थापित न होने का एक कारण यह था कि व्यापक राष्ट्रवादी प्रवृत्ति के भीतर ही हिंदू सांप्रदायिकता प्रवृत्ति को जगह मिल गई, जबकि मुस्लिम सांप्रदायिक प्रवृत्ति को राष्ट्रवादी धारा के बाहर काम करना पड़ा। कुछ नेताओं ने हिंदू राष्ट्रीयता की, मुसलमानों को 'विदेशी' कहने की और यहां तक कि हिंदुओं के हितों की रक्षा करने के लिए नौकरियों और विधायिका की जगहों पर हिंदुओं की हिस्सेदारी के बारे में बात करना शुरू कर दिया था। इस प्रकार हिन्दु और मुसलमान सांप्रदायिकता को विकसित करने की एक दूसरे ने सामग्री उपस्थित की।

ब्रितानी महाशक्ति द्वारा सन् 1914 में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा से भारत स्वतः : उसकी परिधि में आ गया। युद्ध की घोषणा या मूलतः ब्रितानी साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए युद्ध में भारतीय जनशक्ति और साधनों के इस्तेमाल करने के सरकारी निर्णय के पूर्व भारतीयों से सलाह नहीं ली गयी थी। यद्यपि (युद्ध में) भारत का अवदान स्वैच्छिक नहीं था, पर काफी बड़ा था। फ्रांस से

लेकर चीन तक के विभिन्न युद्ध मोर्चों पर 10 लाख से अधिक भारतीय भेजे गये। उनमें से 10 प्रतिशत मौत के शिकार हुए। युद्ध पर कुल 12 करोड़ 10 लाख पौंड से अधिक खर्च हुआ। भारत के राष्ट्रीय ऋण में 30 प्रतिशत की वृद्धि हो गई और उसके एक बड़े भाग के भुगतान के लिए जनता को मजबूर किया गया।

प्रारम्भ में भारतीय नेताओं ने ब्रिटेन के लिए सहानुभूति और समर्थन की घोषणा की लेकिन बावजूद इसके यह सोचना गलत होगा कि जनता में सचमुच ब्रिटेन का पक्ष लेने की भावना थी। नरमपंथी और उग्रपंथी दोनों ही वर्गों के नेताओं ने जर्मनी की जीत का समाचार सुनकर संतोष का अनुभव किया। कांग्रेस ने इस तथ्य को गुप्त नहीं रखा कि भारतीय वफादारी के पुरस्कार के रूप में राजनीतिक सुधार की मांगों की पूर्ति होनी चाहिए। गांधी जी ने भर्ती में सक्रिय सहायता इस दृष्टि से की ताकि साम्राज्य के कूटनीतिज्ञों की सहायता से स्वराज पाने की योग्यता प्राप्त हो जाये। सन् 1918 में उन्हें कहना पड़ा “भारतीयों का स्वप्न है स्वराज। उसे साकार करने से कम किसी चीज़ से उन्हें संतोष नहीं होगा और वह भी जितना संभव हो कम हो कम समय में।”

लेकिन युद्ध के ऊंचे लगने वाले उद्देश्यों के मित्र राष्ट्रों के दावे से बहुत लोग भ्रम के शिकार हुए। लायड जार्ज ने कहा, “मित्र देश अन्य किसी चीज़ के लिए नहीं सिर्फ स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं।” लगा कि राष्ट्रपति वल्सन के 14 सूत्र इन्ही आदर्श विचारों को सशक्त कर रहे हैं। अतः आश्चर्य नहीं कि अधिसंख्या भारतीय युद्ध का वास्तविक चरित्र देख पाने में असफल रहे। उस युद्ध का चरित्र था एक संघर्ष जो साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा उपनिवेशों और बाजारों के लिए चलाया गया। प्रारंभिक उत्साह इस संकेत के अभाव में मद्धम पड़ गया कि भारतीय सहयोग को सुधारों के जरिये मान्यता दी जायेगी। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी ने भविष्यवाणी की कि सुधारों की घोषणा में सरकारी विलंब नरमपंथियों के प्रभाव को समाप्त कर देगा।

उग्रपंथियों और नरमपंथियों को साथ लाने में दो चीज़ों ने काम किया। फिरोज़शाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले का देहावसान तथा तिलक की मांडले से वापसी। श्रीमती एनी बेसेंट के सुझाव पर मुम्बई कांग्रेस (1915) ने उग्रपंथियों के लिए दरवाज़ा सही मायनों में खोल दिया। भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा, सामाजिक और शैक्षिक योजनाओं के प्रति निष्ठा और राष्ट्रकुल के अंतर्गत पूर्ण स्वराज की अपनी प्रतिबद्धता के कारण वह उस समय तक एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक नेता बन गयी थी। आयरलैंड की विद्रोह से प्रेरणा लेकर उन्होंने सितंबर, 1916 में ‘होम रूल लीग’ की स्थापना की। थियोसोफिकल सोसायटी के साधनों और आयरी राष्ट्रवादियों के तरीकों का इस्तेमाल करके उन्होंने थोड़े ही दिनों में पूरे देश में लीग की शाखाएं स्थापित कर दीं। तिलक अपनी होम रूल लीग के साथ उसमें शामिल हो गये। उनके सहज भाषाणों और तेज़ चोट करने वाले लेखों ने एक बार फिर देशभक्ति, निर्भयता और त्याग पर बल दिया। उन्होंने अपनी गतिविधियों को महाराष्ट्र और मध्यप्रांत तक सीमित रखा, लेकिन अपने योग्य अनुयायियों की सहायता से श्रीमती बेसेंट ने देश के शेष भाग में आंदोलन को संगठित किया। युद्ध के परिणामस्वरूप कर बढ़ गये, कीमतें

बढ़ गई और गरीबी वर्ग की तकलीफें भी। वे होम रूल की अपील से प्रभावित हुए। ऐसा ही बड़ी संख्या में स्त्रियों ने भी किया।

क्रांतिकारी आंदोलन देश में और देश के बाहर

एक ओर युद्ध से पैदा हुई उत्तेजना इस रूप में कांग्रेस की शक्ति का पुनर्वर्द्धन कर रही थी, और दूसरी ओर क्रांतिकारियों ने जर्मनी की सहायता से परिस्थितियों का लाभ उठाने का फैसला किया। सरकार के दमनकारी कदमों के कारण वे अस्तव्यस्त हो गये थे, लेकिन सन् 1912 से उन्होंने दूसरी बार की शक्ति आजमाइश के लिए अपने को पुनर्संगठित करना शुरू किया। देश के बाहर के भारतीय क्रांतिकारियों ने स्वतंत्रता के हमारे संघर्ष में एक नया आयाम जोड़ा। वे सिर्फ व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने जेल या मृत्यु से डरकर विदेशों में पलायन कर लिया था। उनमें से अधिकतर को केंद्र संगठित करने की योजना के साथ भेजा गया था। आशय था भारतीय मसले का संभावित प्रचार और अस्त्र तथा धन का एकत्रण ताकि यहां पर क्रांति को विस्तृत किया जा सके। उन्होंने भारतीय छात्रों, व्यापारियों और प्रवासी मजदूरों में से नये लोगों की भर्ती की। वे जहां भी गये, वहां के प्रगतिशील और समाजवादी आंदोलनों का समर्थन प्राप्त किया। युद्ध छिड़ जाने के बाद वे विदेशों में नियुक्त भारतीय मेना की टुकड़ियों, युद्धबंदियों, ब्रितानी शासन के वैरियों से संपर्क स्थापित कर सकते थे। उन्होंने जर्मनी की सहायता से भारत के क्रांतिकारी संगठनों के लिए जवान, कोष और अस्त्र की आपूर्ति करने की योजना बनायी। उनका मतलब भी जर्मनी के हाथों का औजार बनना नहीं था।

सावरकर की गिरफ्तारी और पलायन के उनके घातक प्रयत्न के बाद लंदन के क्रांतिकारी इधर-उधर छितरा गये। वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय पेरिस चले गये और फिर वहां से जर्मनी। जर्मनी के विदेश कार्यालय की सहायता से बर्लिन में वहां के रहने वाले भारतीयों की एक समिति बनी, जो बाद में भारतीय स्वतंत्रता समिति के नाम से जानी गई। वीरेन्द्रनाथ उसके सचिव हुए। उसने लंदन, इस्तांबूल, पर्सिया और काबुल में अपने प्रचारक मंडल भेजे जिसने भारतीय सेना की टुकड़ियों और भारतीय युद्धबंदियों के बीच काम किया। राजा महेन्द्रप्रताप को मौलाना बरकतुल्लाह और मौलाना उबेदुल्लाह के साथ काबुल भेजा गया, जहां उन्होंने भारत की एक अस्थायी सरकार बनाई।

इसी बीच हरदयाल अमेरिका पहुंच गये, जहां तारकनाथ दास और मोहन सिंह ने पश्चिमी तट पर बसे भारतीय प्रवासियों के बीच (जो अमेरिका के प्रवास संबंधी सख्त कानून से तंग थे) क्रांतिकारी संदेशों का प्रचार शुरू कर दिया था। उन्होंने एक पार्टी की स्थापना की और 1 नवंबर, 1913 से एक साप्ताहिक गदर प्रकाशित हुआ। पार्टी ने वही नाम अपना लिया। इसके कार्यक्रमों में सैनिकों के बीच कार्य, अधिकारियों की हत्या, क्रांतिकारी, सामाज्यवाद विरोधी साहित्य का प्रकाशन और अस्त्र प्राप्ति शामिल थे। इसका मुख्य कार्यालय सैनफ्रांसिस्को में रहा। शाखाएं पूरे अमेरिकी तट और सुदूर पूर्व के देशों में स्थापित हुईं। विचार यह था कि एक साथ सारे ब्रितानी उपनिवेशों में क्रांति की जाये। ब्रिटेन और जर्मनी के बीच युद्ध की स्थिति नज़दीक थी और उसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी। गदर ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया, “आवश्यकता है वीर सिपाहियों की। वेतन : मृत्यु। पुरस्कार : शहादत। पेंशन: स्वतंत्रता। युद्ध स्थल : भारत”।

कामागाटामारू की घटना ने गदर पार्टी की गतिविधियों में सहायता पहुंचाई। वह एक जलयान था, जिसे प्रवासियों को कनाडा पहुंचाने के लिए भाड़े पर लिया गया था, लेकिन उसके पहुंचने पर यात्रियों के दो महीने तक तंगी-तकलीफ और अनिश्चय में रहने के बाद लौटने की विवश होना पड़ा। अंततः कामागाटामारू ने कोलकाता बंदरगाह पर लंगर डाला तो यात्रियों ने उस रेलगाड़ी पर चढ़ने से इंकार कर दिया जिसे सरकार ने उनके लिए आरक्षित किया था। परिणाम था एक दंगा जिसमें 20 से लेकर 40 आदमी तक मारे गये और बृहत से घायल हुए। तोशामारू की भी यही हालत हुई। उस पर बैठे पंजाबी इस समाचार से उत्तेजित हुए। वे जल्दबाजी में भारत वापस आये और ब्रितानी शासन के खिलाफ के प्रभावशाली सशस्त्र आंदोलन चलाने के लिए घटनाग्रस्त व्यक्तियों के साथ हो लिये। जर्मन हथियार पाने में असफल होकर उन्होंने बंगाली क्रांतिकारियों से संपर्क किया।

उनमें यतीन्द्रनाथ मुकर्जी, रासबिहारी बोस और नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य जैसे नये नेता सामने आ चुके थे। भारतीय सैनिकों को समझा बहकाकर सेना से निकालने, एक क्रम में पेशावर से लेकर चटगांव तक की पुलिस लाइनों और सरकारी राज्यों पर आक्रमण करने और अंततः जर्मनी हथियारों से युद्ध की घोषणा योजना के मुख्य अंग थे। 21 फरवरी, 1915 का दिन विद्रोह के लिए निश्चित किया गया; लेकिन दुर्भाग्य कि विश्वासघात के कारण प्रयत्न असफल हो गया। षड्यंत्र के एक प्रमुख सदस्य वी.जी. पिंगले को मेरठ की केवेलरी लाइन में बम के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। सेना की विद्रोही रेजिमेंटों को विघटित कर दिया गया। बहुत से षड्यंत्रकारियों को या तो फांसी पर लटका दिया गया या कालापानी की सज़ा देकर अंडेमान भेज दिया गया। रासबिहार बोस जापान भाग गये।

यतीन मुकर्जी ने अधिक महत्वाकांक्षी योजनाओं के मोह में छिटपुट हत्या के कार्यक्रमों पर अमल नहीं किया। 'रोडा एंड कंपनी' को भेजे गये माउजर पिस्तौलों की ऐन मौके पर बहुत बड़ी संख्या में बरामदी हुई। जर्मनी हथियारों की प्रतीक्षा करने वाले पांच बंगाली आतंकवादियों और सशस्त्र पुलिस की एक बटालियन के बीच सबसे अधिक याद की जाने वाली एक लड़ाई बड़ी वालान नदी के तट पर वालासोर में हुई, जिसमें एक खाई में से बहादुरी से लड़ते यतीन्द्रनाथ मारे गये।

युद्ध के दौरान क्रांतिकारी आंदोलन इसलिए असफल हो गया, क्योंकि भारतीय नेताओं में पारस्परिक समन्वय का और भारतीय क्रांतिकारियों तथा बर्लिन समिति और गदर पार्टी में संपर्क का अभाव था। सरकार चूंकि शुरू से ही संदिग्ध थी, उसने अमेरिकी सरकार को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह जहाज से हथियार भेजे जाने के प्रयत्न को सफल न होने दे। जिस वक्त से अमेरिका जर्मनी के युद्ध में मित्र देशों के साथ हो गया, वहां पर कोई भी गतिविधि असंभव हो गई। सैनफ्रांसिस्को में गदर पार्टी के नेताओं पर मुकद्दमे चले, जिसकी वजह से अमेरिका में रहकर और कोई भी क्रांतिकारी गतिविधि चलाने की सभावनाएं खत्म हो गईं।

लखनऊ समझौता

परिस्थितियां जिस वक्त सरकार को चीजों को एक नये दृष्टिकोण से देखने को विवश कर रही थीं, सन् 1916 में कांग्रेस और लीग के बीच के समझौते ने एक रास्ता दिखाया। लखनऊ कांग्रेस का अधिवेशन सन् 1908 के बाद का संयुक्त कांग्रेस का पहला अधिवेशन था। होम रूल आंदोलन ने उसमें युद्ध की चेतना भर दी थी। मौलाना आज़ाद, अंसारी और अजमल खां से एक सहमति हुई।

अब तक सामंती तत्त्वों के नेतृत्व में रहने के कारण लीग अलीगढ़ वर्ग के राजनीतिक दृष्टिकोण की सीमाओं से बाहर आ गई थी और उसका रुख भी अधिक सख्त हो गया था। आज़ाद के अलहिलाल और मुहम्मद अली के कामरेड का दमन और उसके तत्काल बाद दोनों नेताओं की नज़रबंदी के कारण मुसलमान वर्ग के राष्ट्रवादी नेता कांग्रेस से सहयोग करने को तैयार हो गये। परिणाम था लखनऊ समझौता।

तिलक ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग को साथ लाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, क्योंकि वह महसूस करते थे कि बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती थी। एक संयुक्त राष्ट्रीय संगठन के मुकाबले में उग्रपंथियों की एक संस्था कम प्रभावकारी होगी। एकता प्राप्त करने की अपनी उत्सुकता में उन्होंने पृथक् निर्वाचन मंडल और मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व देने के सिद्धान्त तक को स्वीकार कर लिया। विधानसभाओं में विभिन्न प्रांतों के लिए मुसलमान सदस्यों की संख्या स्पष्टतया ब्यौरेवार निश्चित थी। शाही विधान परिषद् में इसकी संख्या एक तिहाई होनी थी। यदि एक धर्म के तीन चौथाई सदस्य किसी कानून का विरोध करते हों तो उसे अमल में लाने के कदम नहीं उठाये जा सकते थे। प्रत्युत्तर में कांग्रेस और लीग ने संयुक्त रूप से भारतीय परिषद् की समाप्ति, केंद्रीय और प्रांतीय विधान परिषद् के 80 प्रतिशत सदस्यों के चुनाव प्रांतीय मामलों में हस्तक्षेप न करने के वायदे तथा प्रतिरक्षा और विदेश नीति के अलावा केंद्रीय सरकार के अन्य सभी विभागों पर पूर्ण नियंत्रण की मांग की। लखनऊ समझौता हिंदू-मुस्लिम एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण अगला कदम था। लेकिन, जैसा कि गांधी जी ने कहा, “ वह शिक्षित और धनी हिंदुओं तथा शिक्षित और धनी मुसलमानों के बीच का एक समझौता था। ” इसने हिंदू और मुसलमान जनता में लगाव की भावना नहीं पैदा की। वह अब भी हिंदुओं और मुसलमानों के हितों के भिन्न होने की धारणा पर बल देता रहा और इसीलिए दोनों के ही अलग-अलग राजनैतिक अस्तित्व की बात होती रही। इसका आधार ही वह खतरनाक और गलत धारणा थी कि हिंदू और मुसलमान दोनों के विभिन्न समुदाय हैं। यह धर्मनिरपेक्षता को विकसित करने में सहायक नहीं था। इसने भविष्य की सांप्रदायिकता के लिए दरवाजे खुले रखे। भारतीय एकता को मूलाधार मानकर किये गये समझौता का निश्चित परिणाम ही था, अधिक से अधिक रियायतें तब तक देते जाना, जब तक कि पूरा ढांचा ही टूट न जाये।

बहरहाल, देश के दो बड़े राजनीतिक दलों की निश्चित संयुक्त मांग के कारण कुछ समय तक सरकार को विरोध की स्थिति से गुज़रना पड़ा। अलावा इसके, उसे होम रूल लीग के आंदोलन का भी सामना करना पड़ा, जिसने नयी पीढ़ी के नेताओं को आकर्षित किया था। देश में और देश के बाहर क्रांतिकारी आंदोलन चला रहे थे। उन्हें भी नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता था। सरकार ने एक बार फिर सुधारों की नीति और दमन का अपना दो चेहरों वाला ऐवी मुखड़ा खोला। एक तरफ वायसराय चेम्सफोर्ड ने भारतीय मामलों के मंत्री से सुधारों को घोषणा करने का आग्रह किया और दूसरी तरफ गृह विभाग के सदस्य ने ‘नयी बाढ़ को रोकने के लिए बांध खड़ा करने’ की बात कही। होम रूल लीग को दबा दिया गया। एनीबेसेंट गिरफ्तार कर ली गई। कांग्रेस ने वायसराय से विरोध किया और श्रीमती बेसेंट को सन् 1917 की कोलकाता कांग्रेस का अध्यक्ष चुना। यद्यपि कांग्रेस ने चेन्नई के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन के सुझाव को ताक पर रख दिया था। फिर भी उसे स्वराज

की मांग से पूरे तौर पर जोड़कर ही देखा गया। उसने जल्दी ही पूर्ण स्वतंत्रता देने और कांग्रेस लीग योजना की सुधारों का पहला चरम स्वीकार करने की मांग रखी।

सरकारी अनुक्रिया : दमन और सुधार के वायदे

20 अगस्त, 1917 को मंत्री माटैग्यु ने संसद में सरकारी जवाब की घोषणा की। उन्होंने जिन कदमों का सुझाव दिया था उन पर एक तो बहुत देर से अमल किया गया और वह भी सीमित ढंग से। इसमें कोई शक नहीं कि माटैग्यु ने पहली बार भारत में सुधार और एक जिम्मेदार सरकार की स्थापना के उद्देश्य की बात सामने रखी। लेकिन उसे धीरे-धीरे आगे बढ़ाना था। उसे प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों की संख्या को निरंतर बढ़ाकर सावधानीपूर्वक प्रभावी करना था। स्वशासी संस्थाओं को सतर्कतापूर्वक विकसित करना था। इसका मतलब था सुधार कार्यक्रमों को एक के बाद एक चरण में लागू करना, आगे बढ़ाने के लिए हर बार के समय और तरीके का निश्चय करने के लिए ब्रितानी सरकार का न्यायाधीश होना। इसके अलावा, उसके (सरकार के) फैसलों को भारतीय सहयोग की मात्रा और चरित्र तथा अंग्रेजों के इस अनुमान पर आधारित होना था कि भारतीय अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह में कितने समक्ष हुए हैं। व्यवहार में प्रभावकारी अधिकारों का इस्तेमाल अंग्रेजों द्वारा उनके अपने हित में किया जाने वाला था। सुधार रोटी का मात्र एक टुकड़ा था, जिसके जरिये नरमपंथी राष्ट्रवादी मत को संतुष्ट करना और उन्हें जुझारू राष्ट्रवादियों से अलग कर देना था।

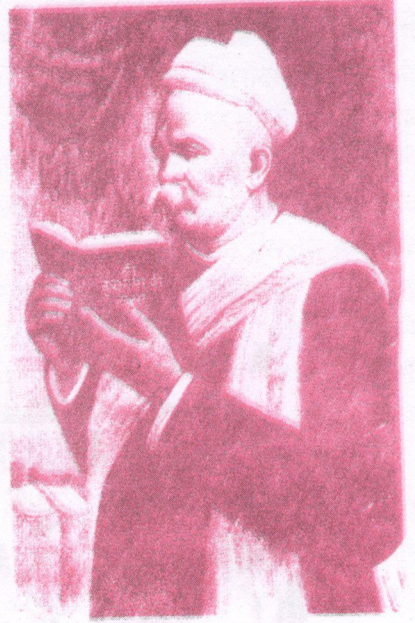
सुधार के वायदे के साथ-साथ, सरकार ने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करने वाली शक्तियों का दमन करने की तैयारी की। आपराधिक कानून संशोधन विधेयक ने षड्यंत्र को अपराधी काम करार दिया और सरकार को अधिकार दे दिया कि वह विशेष न्यायाधिकरणों द्वारा मुकदमों की संक्षिप्त सुनवाई करा सके। लोगों को मात्र संदेह में अनिश्चित काल के लिए नज़रबंद कर दिया गया और कैदियों के साथ क्रूरता का बर्ताव किया गया। राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने के लिए सुधारों के वायदे, राष्ट्रीय आंदोलन को भ्रामक रास्ते पर ले जाने का प्रयत्न और जनता पर अपनी गिरफ्त को मजबूत बनाये रखने के लिए दमन का सहारा-साम्राज्यवाद को हर कीमत पर और हर तरीके का इस्तेमाल करके बनाये रखना ही था।



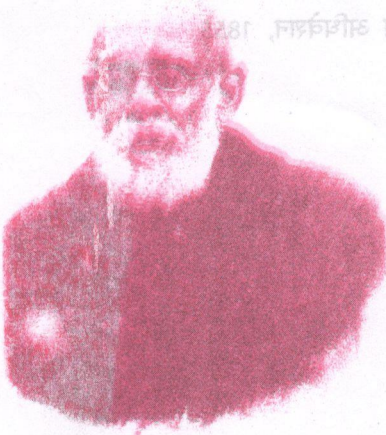
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन, 1855



दादाभाई नौरोजी



एम. जी. रानाडे



सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी



बदरुद्दीन तैयबजी

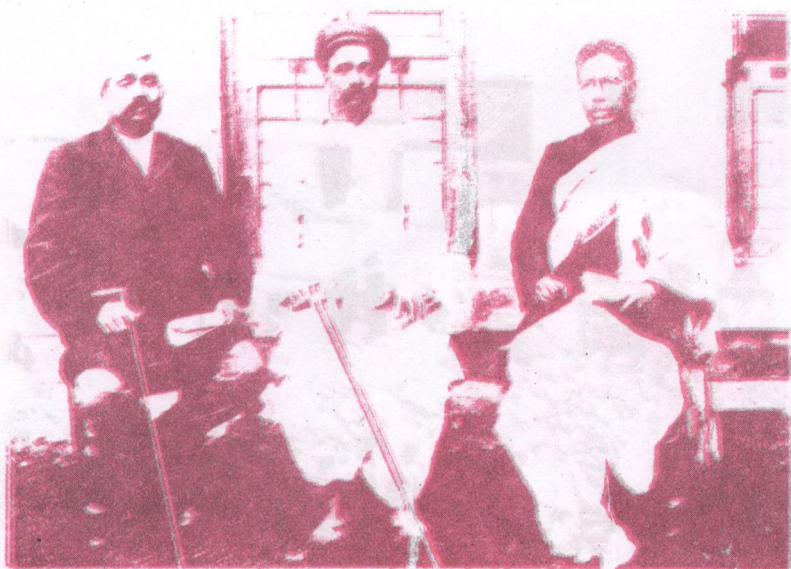


श्री अरविंद

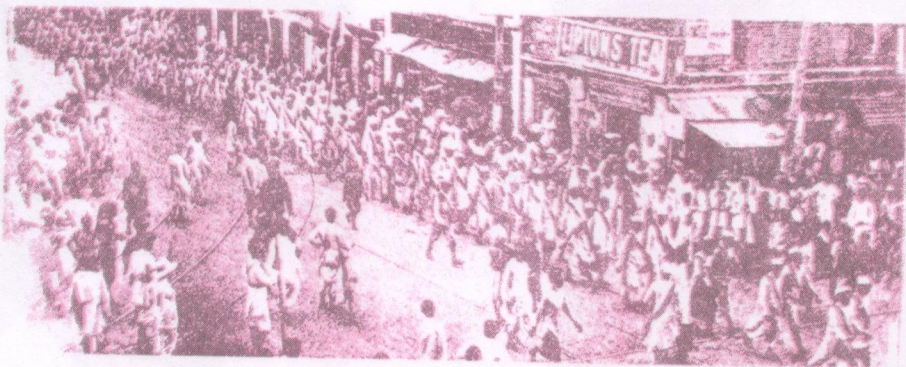


गोपालकृष्ण गोखले

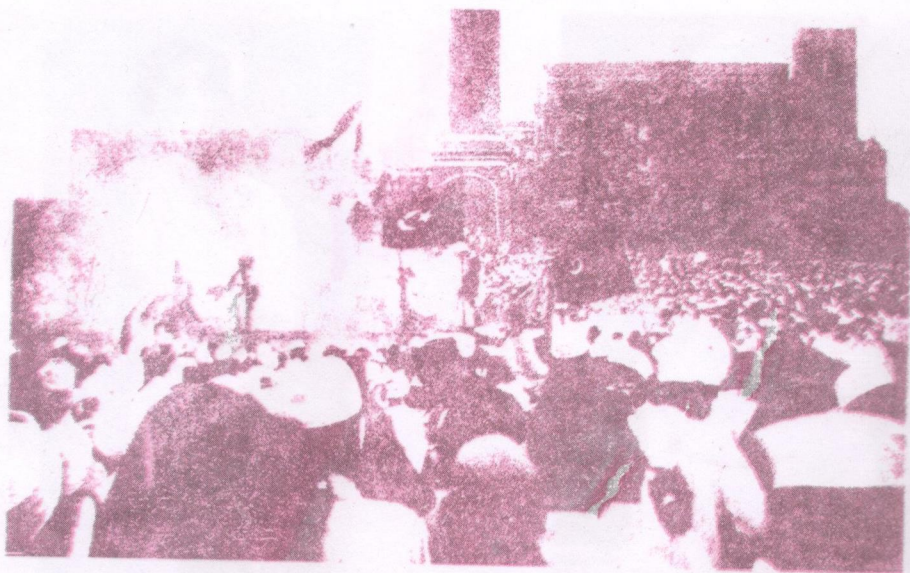
गणेशजी का कक्ष



लाला लाजपत राय, बालगंगाधर तिलक और बिपिनचंद्र पाल



कोलकाता में एन. सी. ओ के स्वयंसेवकों की परेड, 1921



मुम्बई में होली



मोहम्मद अली



सी. विजयाराघव चरियर



एम. ए. अंसारी



सरोजनी नायडू



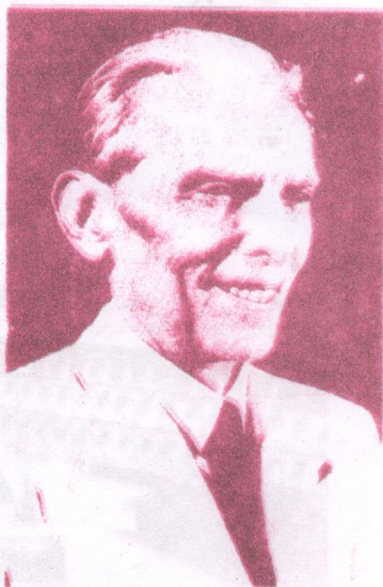
चित्तरंजन दास



मोतीलाल नेहरू



मदन मोहन मालवीय



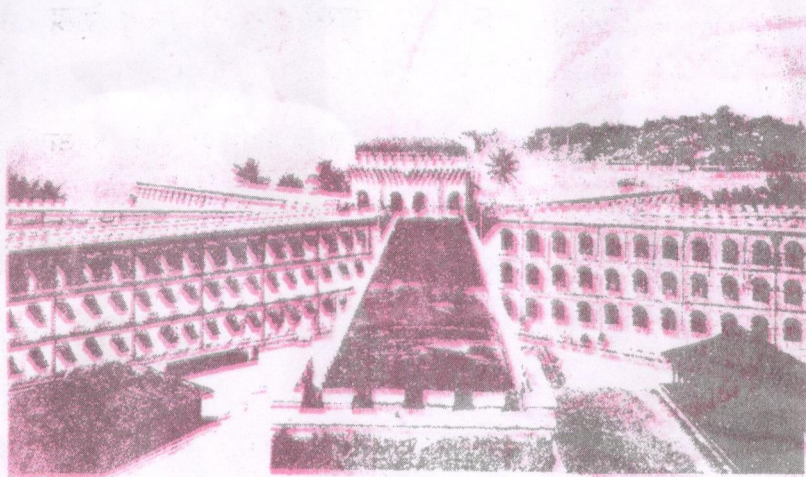
मोहम्मद अली जिन्ना



सूर्यसेन



सरदार भगत सिंह



सेलुलर जेल पोर्ट ब्लेयर

अभ्यास

1. ब्रितानी शासन का प्रभाव

अभ्यास प्रश्न-

1. 15 अगस्त 1947 को प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने भारतीय राष्ट्र को किन शब्दों से सम्बोधित किया ?
2. ब्रितानी शासन का भारतीय कृषि क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ा ? संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
3. 1757 से 1857 तक भारत के साथ अंग्रेजी व्यापार की क्या प्रवृत्ति रही ? इससे भारतीय व्यापार पर क्या अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव पड़े ?
4. ब्रितानी शासन ने भारतीय संस्कृति और सामाजिक क्षेत्रों में पड़ने वाले चार प्रभावों का वर्णन करें।

लघु प्रश्न-

1. 31 दिसम्बर 1929 को रावी के तट पर नेहरू जी ने क्या संकल्प लिया था ?
2. ब्रितानी शासन का भारत में आरम्भ कब से माना जाता है ?
3. ईस्ट इंडिया कम्पनी ने किन तीन प्रमुख शहरों की किलेबन्दी की तथा कर वसूल किया ?
4. 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अरबी और फारसी के दो प्रमुख केन्द्र कौन-कौन थे ?
5. ईस्ट इंडिया कम्पनी की वास्तविक सत्ता कब ब्रितानी सरकार ने अपने हाथ में ली ?
6. अंग्रेजों द्वारा आरम्भ की गई दो भू-राजस्व और लगान पद्धतियों के नाम बताओ।
7. भारतीय राष्ट्रवाद का मुकाबला करने के लिए अंग्रेजों ने किस नीति को प्रोत्साहन दिया ?
8. भारत में औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का विकास कब हुआ ?

2. प्रारंभिक चरण

अभ्यास प्रश्न-

1. 1857 में जन व्यापी विद्रोह के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिए। क्या इसे स्वतंत्रता संग्राम का प्रथम सोपान कहा जा सकता है ?
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किन उद्देश्यों को सामने रखकर की गई ? 1885 से 1905 तक इसके कार्यों का संक्षिप्त वर्णन करें।
3. अंग्रेजी शासन काल में 1857 तक उपजने वाले प्रमुख नागरिक विद्रोहों के क्या कारण थे ? इनके बाद में क्या परिणाम निकले ?
4. “राजाराम मोहन राय ने आधुनिक सुधार आंदोलन का सूत्रपात किया।” इस तथ्य के पक्ष में अपने-अपने विचार लिखें।

लघु प्रश्न-

1. अवध को अंग्रेजी साम्राज्य में कब मिलाया गया ?
2. 1857 के जन विद्रोही तीन प्रमुख केन्द्र कौन-कौन थे ?
3. आदिवासी विद्रोह में किन आदिवासी कबीलों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ?
4. झांसी की रानी वीरगति को कब प्राप्त हुई ?
5. 1857 में दिल्ली में भारत का सम्राट किस को घोषित किया गया ?
6. “इंडिया” नामक पत्रिका का प्रकाशन कब आरम्भ हुआ ?
7. कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता किसने की ?

3. युद्धोन्मुख राष्ट्रवादिता का दौर

अभ्यास प्रश्न-

1. 1897 में तिलक को किस लिए गिरफ्तार किया गया ? विस्तार से लिखो।
2. केन्द्रीय विधायिका के लिए मुख्यतः कितने प्रकार के निर्वाचन मंडल थे ? इनकी व्याख्या कीजिए।
3. बंगाल का विभाजन कब तथा किसने किया ? विभाजन के बाद बंगाल के लोगों की प्रतिक्रिया के बारे में संक्षेप में लिखिए।
4. स्वामी विवेकानन्द की प्रमुख कौन-कौन शिक्षाएं थीं ? विस्तार से लिखो।
5. निम्नलिखित में से किसी एक पर नोट लिखें।
 1. मिंटो मार्ले सुधार
 2. लखनऊ समझौता

लघु प्रश्न-

1. गर्म दल के तीन प्रमुख नेताओं के नाम लिखो।
2. बंगाल नैशनल कालेज की स्थापना कब हुई ?
3. दो बदनाम अंग्रेज अफसरों की हत्या किन दो क्रांतिकारीयों ने की ?
4. बंगाल में बना बम 23 दिसम्बर, 1912 ई० को किस अंग्रेजी अफसर पर फेंका गया ?
5. बंगाल के विभाजन को किसने रद्द किया ?
6. मोहम्मडन एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना किसने की ?
7. मध्यकाल में किन तीन राजवंशों ने राज्य किया ?
8. मुस्लिम लीग की स्थापना कब हुई ?
9. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन कब हुआ ?